न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते

माणिकचन्द-दिगम्बर-जैन-
ग्रन्थमाला

जम्बूस्वामिचरितम्
अध्यात्मकमलमार्तण्डश्च

माणिकचन्द्-दि०-जैनग्रन्थमालायाः पञ्चत्रिंशतितमो ग्रन्थः

पण्डितराजमल्लविरचितम्

जम्बूस्वामिचरितम्

अध्यात्म-कमलमार्त्तण्डश्च

संशोधकः

श्रीजगदीशचन्द्रशास्त्री एम्० ए०

प्रकाशिका

मा०-दि०-जैनग्रन्थमाला-समितिः

आश्विन, १९९३ वि०

मूल्यं सार्द्धरूप्यकम्

प्रकाशक,

नाथूराम प्रेमी

मंत्री, मा० दि० जैनग्रंथमाला

हीराबाग, बम्बई.
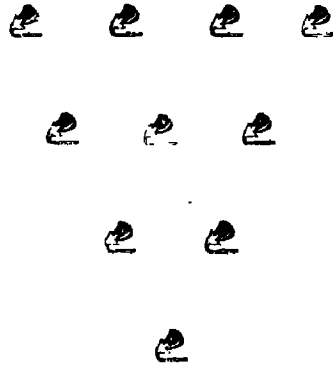
मुद्रक,

रघुनाथ दिपाजी देसाइ,

न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस,

६ केळेवाडी, गिरगांव, बंबई ४.
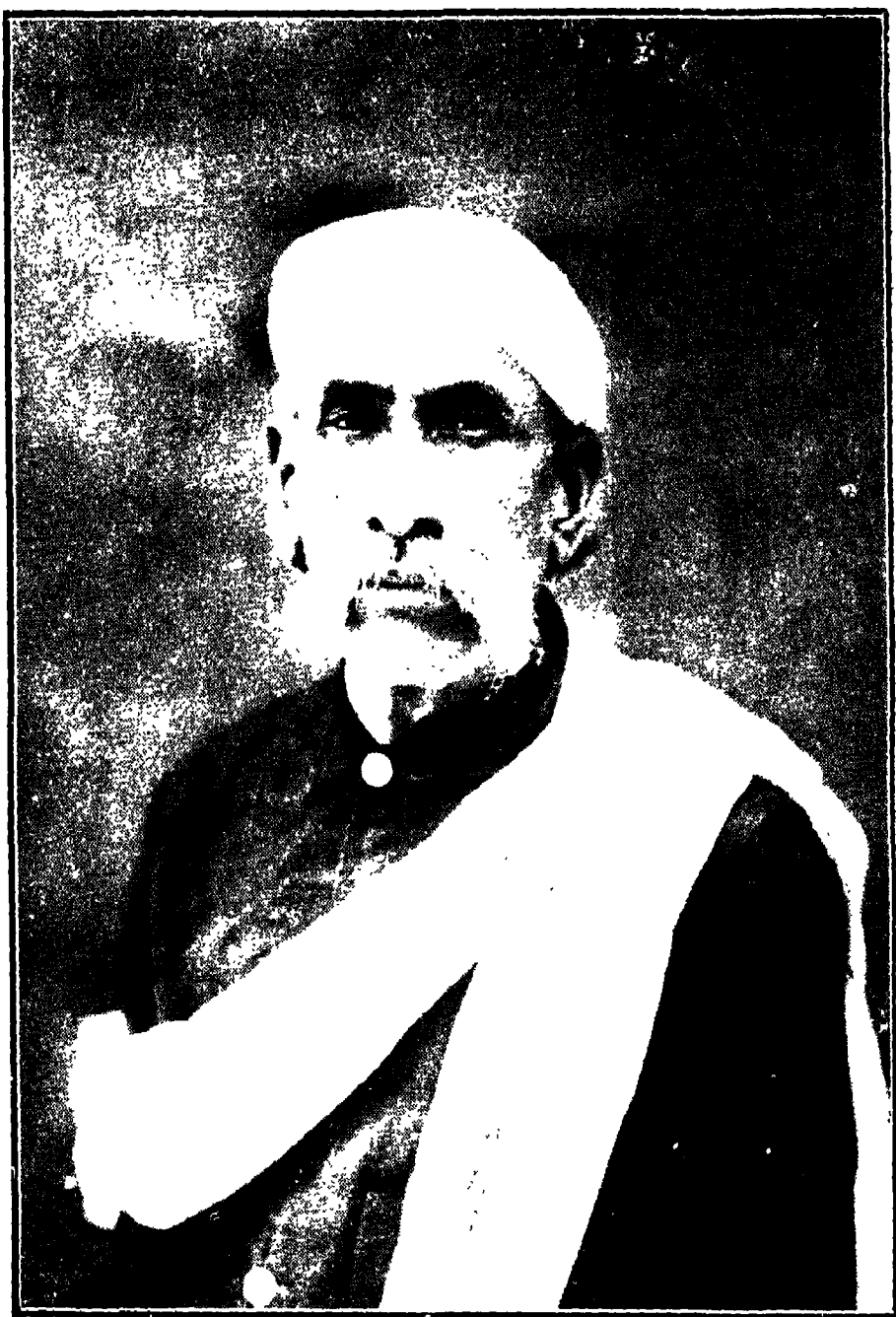
जिनवाणी-भक्त लाला मुसद्दीलालजी वल्द उम्मेदसिंहजी

[आपने इस ग्रन्थमालाके स्थायी फण्डमें इकमुश्त १००१) रु० दिये हैं और इसके समस्त ग्रन्थोंका सबसे अधिक प्रचार किया है ।]

जन्मतिथि—२० जुलाई सन् १८५८ ई०

प्रस्तावना

कवि राजमल्ल

दिगम्बर-परम्परामें राजमल्ल अथवा रायमल्ल नामके कई विद्वान् हो गये हैं। प्रस्तुत विद्वान् पंडित राजमल्ल अथवा कवि राजमल्लके नामसे प्रख्यात थे। आप अपने नामके साथ 'स्याद्वादानवद्यगद्यपद्य-विद्याविशारद' विशेषणका प्रयोग करते हैं। कवि राजमल्लकी रचनाओंके ऊपरसे माल्म होता है कि आप जैनागमके बड़े भारी वेत्ता एक अनुभवी विद्वान् थे। आपने जैन वाङ्मयमें पारंगत होनेके लिये कुन्दकुन्द समंतभद्र, नेमिचन्द्र, अमृतचन्द्र आदि विद्वानोंके ग्रन्थोंका विशाल तथा सूक्ष्म दृष्टिसे अध्ययन और आलोडन किया था। पं० राजमल्ल केवल आचार-शास्त्रके ही पण्डित न थे, बल्कि आपने अध्यात्म, काव्य और न्यायमें भी कुशलता प्राप्त की थी, यह आपकी विविध रचनाओंसे स्पष्ट माल्म होता है।

पं० राजमल्ल स्वयं अपने विषयमें कोई परिचय नहीं देते। इसलिये आप कहाँके रहनेवाले थे, आपके गुरुका क्या नाम था इत्यादि बातोंकी जानकारीसे हमें सर्वथा वंचित ही रहना पड़ता है। लाटी-संहिताकी प्रशस्तिमें एक स्थानपर आप अपनेको हेमचन्द्रकी आम्नायका विद्वान् कहकर उल्लेख करते हैं। इससे केवल इतना ही ज्ञात

होता है कि आप हेमचन्द्रकी आम्नायके थे। पर ये हेमचन्द्र कौन थे इसका कुछ पता नहीं चलता।

राजमल्लकी कृतियाँ

आजसे अनेक वर्ष पूर्व जब स्व० पं० गोपालदासजी बरैयाकी कृपासे जैन विद्वानोंमें पंचाध्यायी नामक ग्रन्थके पठन-पाठनका प्रचार हुआ, उस समय लोगोंकी यह मान्यता हो गई कि यह ग्रन्थ अमृतचन्द्र-सूरिकी रचना है। परन्तु लाटीसंहिताके प्रकाशमें आनेपर यह धारणा सर्वथा निर्मूल सिद्ध हुई। और अब तो यह और भी निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि पंचाध्यायी, लाटीसंहिता, जम्बूस्वामि-चरित और अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड ये चारों ही कृतियाँ एक ही विद्वान् पं० राजमल्लके हाथकी हैं।

पंचाध्यायीके मंगलाचरणमें ग्रन्थकार पंचाध्यायीको 'ग्रन्थराज' के नामसे उल्लेख करते हैं और इसे स्वात्मवश लिखनेमें प्रेरित होते हैं इस ग्रंथको पाँच अध्यायोंमें लिखनेकी प्रतिज्ञा की गई है। दुर्भाग्यसे

---

१ पं० जुगलकिशोरजीका कहना है कि "यहाँ जिन हेमचन्द्रका उल्लेख है, वे ही काष्ठासंघी भट्टारक हेमचन्द्र जान पड़ते हैं, जो माथुर गच्छ और पुष्कर गणान्वयी भट्टारक कुमारसेनके पट्टशिष्य तथा पद्मनन्दि भट्टारकके पट्टगुरु थे, और जिनकी कविने लाटी-संहिताके प्रथम सर्गमें बहुत प्रशंसा की है।... ... ...इन्हीं भट्टारक हेमचन्द्रकी आम्नायमें 'ताल्हू' विद्वान्‌को भी सूचित किया है। इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता कि कवि राजमल्ल एक काष्ठासंघी विद्वान् थे। आपने अपनेको हेम-चन्द्रका शिष्य या प्रशिष्य न लिखकर आम्नायी लिखा है, और 'फामन' के दान, मान, आसन आदिसे प्रसन्न होकर लाटी-संहिताके लिखनेको सूचित किया है। इससे यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि आप मुनि नहीं थे, बहुत संभव है कि आप गृहस्थाचार्य हों या ब्रह्मचारी आदिके पदपर प्रतिष्ठित हों। लाटीसंहिताकी भूमिका (माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला) पृ० २३.

यह समस्त ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। जितना उपलब्ध है उसमें केवल दो प्रकरण मिलते हैं:—एक द्रव्यसामान्यनिरूपण जिसमें ७७० श्लोक हैं, और दूसरा द्रव्यविशेषनिरूपण जिसमें ११४५ श्लोक हैं। दूसरा प्रकरण अधूरा है। इन दोनोंको मिलाकर लगभग पौने दो अध्याय कहा जा सकता है[1]। पंचाध्यायी कविकी सर्वोत्तम प्रौढ़ रचना प्रतीत होती है। जीवोंको सुगम उक्तिसे धर्मका बोध करनेके लिये ही कवि इस ग्रन्थकी रचना करनेमें प्रेरित हुए हैं[2]। इसमें प्रतिपाद्य विषयको शंका-समाधानके रूपमें उपस्थित करके विषयको बहुत ही सुन्दर और सरलरूपमें रक्खा गया है। द्रव्य, गुण, पर्याय, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, प्रमाण, नय आदिसंबंधी द्रव्यानुयोगकी चर्चाको ग्रन्थकारने अनेक दृष्टांत आदि देकर तार्किक दृष्टिसे खूब ही प्रस्फुटित किया है। विशेष करके कविका व्यवहार और निश्चयनयका समन्वय करना, श्रद्धा आदि गुणोंसे स्वात्मानुभूतिकी उत्कृष्टताका प्रतिपादन[3] करना आदि, कविकी मौलिक प्रतिभा, समर्थता और अनुभव-वृद्धताको द्योतित करता है। निस्सन्देह पंचाध्यायी अपने ढंगकी एक अनोखी ही रचना है।

कविकी दूसरी रचना लाटीसंहिता है। यह आचार-शास्त्रका

---

१ अध्यात्मकमलमार्त्तण्डमें भी द्रव्यसामान्य और द्रव्यविशेषके निरूपणके लिये दो अलग अलग परिच्छेद रचे गये हैं। इसी तरह पंचाध्यायीमें भी द्रव्यसामान्य और द्रव्यविशेषनिरूपणको अलग अलग अध्याय समझा जा सकता है।

२ सर्वोऽपि जीवलोकः श्रोतुंकामो वृषं हि सुगमोक्त्या।
विज्ञप्तौ तस्य कृते तत्रायमुपक्रमः श्रेयान्। १–६।

३ स्वानुभूतिसनाथाश्चे(चे)त् सन्ति श्रद्धादयो गुणाः।
स्वानुभूतिं विनाभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः २–४१७।

ग्रन्थ है। कविने इस रचनाको अनुच्छिष्ट और नवीन कहकर सूचित किया है। इसमें सात सर्ग हैं। इसकी पद्य-संख्या लगभग १६०० के है। यह ग्रन्थ अग्रवाल-वंशावतंस मंगलगोत्री साहु दूदाके पुत्र संघके अधिपति 'फामन' नामके धनिकके लिये बनाया गया था। कविने फामनके वंशका विस्तृत वर्णन करते हुए, फामनके पूर्वजोंका मूल निवासस्थान 'डौकनि' नगरी बताया है। इन फामनने स्वयं ही वैराट नगरके 'ताल्हू' नामक विद्वान्की कृपासे धर्म-लाभ किया था। कविने इसी वैराट नगरके जिनालयमें रहकर लाटी-संहिताकी रचना की है। लाटी-संहितामें कविने वैराट नगरका और इस नगरके स्वामी अकबर बादशाहका विस्तृत वर्णन किया है। यह सब ऐतिहासिक वर्णन लाटी-संहिताके कथामुख-वर्णन नामके प्रथम सर्गमें उपलब्ध होता है। अन्य छह सर्गोंमें ग्रन्थकारने आठ मूलगुण, सात व्यसन, सम्यग्दर्शन और श्रावकके बारह व्रतोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। ग्रन्थमें सम्यग्दर्शनके वर्णन करनेके लिये दो सर्ग और अहिंसाणुव्रतके लिये एक स्वतंत्र सर्गकी रचना की गई है। ग्रन्थमें अनेक उद्धरण 'उक्तं च'के रूपमें पाये जाते हैं; जो विशेष करके कविके गोम्मटसार-सटीक आदि सिद्धान्त-ग्रन्थोंके और कुन्दकुन्द आचार्यके अध्यात्म-ग्रन्थोंके विशाल विस्तृत वाचनको सूचित करते हैं। कवि राजमल्लने लाटी-

१ "यह वैराट नगर वही जान पडता है जिसे 'बैराट' भी कहते हैं और जो जयपुरसे क़रीब ४० मीलके फासलेपर है। किसी समय यह विराट अथवा मत्स्य देशकी राजधानी थी, और यहींपर पांडवोंका गुप्त वेशमें रहना कहा जाता है"। लाटीसंहिताकी भूमिका पृ० १९.

संहिताको वि० सं० १६४१ में आश्विन-शुक्ला दशमी रविवारके दिन समाप्त किया था।

कवि राजमल्लकी तीसरी रचना जम्बूस्वामिचरित है। यह ग्रन्थ वि० सं० १६३२ में चैत्र वदी ८ के दिन पुनर्वसु नक्षत्रमें बनाकर समाप्त किया गया था। अर्थात् यह काव्य लाटी-संहितासे नौ वर्ष पूर्व बन चुका था। उस समय अर्गलपुर (आगरे) में अकबर बादशाहका राज्य था। इसमें भी कविने चगत्ता (चग़ताई) जातिके शिरोमणि बाबर और हुमायुँ बादशाहका वर्णन करते हुए बादशाह अकबरका सविस्तर वर्णन दिया है, और अकबरके 'जोजिया' कर और मद्यकी बन्दी करानेका उल्लेख किया है। ग्रन्थकारने इस काव्यको अग्रवाल जातिमें उत्पन्न गर्गगोत्री साधु (साहु) टोडरके लिये बनाया था। ये साहु टोडर महाउदारता, परोपकारिता, दानशीलता, विनयसंपन्नता आदि सर्व गुणोंसे सम्पन्न थे। ये भटानियाँ (कोल[१]) नगरके रहनेवाले, काष्ठासंघी कुमारसेनकी आम्नायके थे। कविने लाटी-संहिताकी तरह यहाँ भी साहु टोडरके वंश आदिका विस्तृत वर्णन किया है। साहु टोडरको कविने वैष्णवमतानुयायी गढमल्ल साहु और अरजानी-पुत्र ठाकुर कृष्णमंगल चौधरीका प्रियपात्र, तथा टकसालके काममें बहुत दक्ष बताया है।

एक बारकी बात है कि ये साहु टोडर सिद्धक्षेत्रकी यात्रा करने मथुरामें आये। वहाँपर बीचमें जम्बूस्वामीका स्तूप (निःसहीस्थान) बना हुआ था, और उनके चरणोंमें विद्युच्चर मुनिका स्तूप था।

---

१ 'कोल' अलीगढ़का पुराना नाम है। भटानिया अलीगढ़के पास कोई स्थान मालूम होता है।

आसपास अन्य मोक्ष जानेवाले अनेक मुनियोंके स्तूप भी मौजूद थे। इन मुनियोंके स्तूप कहीं पाँच, कहीं आठ, कहीं दस और कहीं बीस इस तरह बने हुए थे। साहु टोडरको इन स्तूपोंको जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें देखकर इनका जीर्णोद्धार करनेकी प्रबल भावना जागृत हुई। फलतः टोडरने शुभ दिन और शुभ लग्न देखकर अत्यन्त उत्साहपूर्वक इस पवित्र कार्यका समारंभ कर दिया। साहु टोडरने इस पुनीत कार्यमें बहुत-सा धन व्यय करके ५०१ स्तूपोंका एक समूह और १३ स्तूपोंका दूसरा समूह, इस तरह कुल ५१४ स्तूपोंका निर्माण कराया। तथा इन स्तूपोंके पास ही १२ द्वारपाल आदिकी भी स्थापना की। यह प्रतिष्ठाका कार्य वि० सं० १६३० में ज्येष्ठ शुक्ला १२ को बुधवारके दिन नौ घड़ी व्यतीत होनेपर सूरि-मंत्रपूर्वक निर्विघ्न सानन्द समाप्त हुआ। साहु टोडरने चतुर्विध संघको आमंत्रित किया। सबने परम आनन्दित होकर टोडरको आशीर्वाद दिया और गुरुने उसके मस्तकपर पुष्प-वृष्टि की। तत्पश्चात् साहु टोडरने सभामें खड़े होकर शास्त्रज्ञ कवि राजमल्लसे प्रार्थना की कि मुझे जम्बूस्वामि-पुराणके सुननेकी बड़ी उत्कण्ठा है, सो आप कृपा करके इस कथाको विस्तारसे कहिये। इस प्रार्थनासे प्रेरित होकर कवि राजमल्लने जम्बूस्वामिचरितकी रचना की।

इस काव्यमें कुल १३ सर्ग हैं; जिनकी पद्य-संख्या सब मिलाकर लगभग २४०० के है। जान पड़ता है कि कविने जम्बूस्वामि-चरितको आगरेमें रहकर ही बनाया था। कविने कथामुख-वर्णन नामक सर्गमें आगरेके बाज़ारों आदिका वर्णन भी दिया है। काव्यमें वैराग्यकी प्रधानता है। कहींपर युद्धका वर्णन करते समय वीररस

भी आ गया है। बीच बीचमें धर्मशास्त्र, और कहीं कहीं नीति भी आती है। जम्बूकुमारके साथ जो उनकी स्त्रियों और विद्युच्चरके संवाद हुए हैं, वे बहुत रोचक हैं, और ऐतिहासिक दृष्टिसे भी महत्त्वके हैं।

कवि राजमल्लकी चौथी कृति अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड है। इस ग्रन्थमें चार परिच्छेद हैं, जिनमें सब मिलाकर २५० श्लोक संख्या है। पहिले परिच्छेदमें मोक्ष और मोक्षमार्गका लक्षण, दूसरेमें द्रव्यसामान्य, तीसरेमें द्रव्यविशेष और चौथे परिच्छेदमें सात तत्त्व और नौ पदार्थोंका वर्णन है। कविने इस ग्रन्थका 'काव्य' कहकर उल्लेख किया है, और इसके पठन करनेसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति होना बताया है। अमृतचन्द्रसूरिके आत्मख्याति समयसारकी तरह यहाँ भी ग्रन्थके आदिमें चिदात्मभावको नमस्कार करके, संसार-तापकी शान्तिके लिये कविने अपने ही मोहनीय कर्मके नाश करनेके लिये इस शास्त्रकी रचना की है। ग्रन्थकारने ग्रन्थमें कुन्दकुन्द आचार्य और

---

१ कविने वीरोंको जोश देते हुए लिखा है:—

क्रमोऽयं क्षात्रधर्मस्य सन्मुखत्वं यदाहवे।
वरं प्राणात्ययस्तत्र नान्यथा जीवनं वरं॥
ये दृष्ट्वारिबलं पूर्णं तूर्णं भग्नास्तदाहवे।
पलायंति विना युद्धं धिक् तानास्यमलीमसान्॥

जम्बूस्वामिचरित ६–३०, ३२।

२ उदाहरणके लिये मधु-बिन्दुवाले दृष्टांतकी कथा महाभारत स्त्रीपर्वमें, बौद्धोंके अवदान साहित्यमें और क्रिश्चियन-सहित्यमें पाई जाती है, इसलिये यह संसारके सर्वमान्य कथा-साहित्यकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वकी है। शृगाल और धनुषकी कथा भी हितोपदेशमें आती है। इसी तरह अन्य कथाओंके भी तुलनात्मक अध्ययन करनेसे इस विषयकी विशेष खोज हो सकती है।

अमृतचन्द्रसूरिको स्मरण किया है। कविने इस छोटेसे ग्रन्थमें आत्मख्याति समयसारके ढंगपर अनेक छन्द, अलंकार आदिसे सुसज्जित अध्यात्मशास्त्रकी एक अति सुन्दर रचना करके सचमुच जैन साहित्यके गौरवको वृद्धिंगत किया है।

कवि राजमल्लकी इन चार कृतियोंमें, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, जम्बूस्वामिचरितकी रचना वि० सं० १६३२ और लाटीसंहिताकी रचना वि० सं० १६४१ में हुई है। शेष दो ग्रन्थोंके समयके विषयमें ग्रन्थकारने स्वयं कुछ भी उल्लेख नहीं किया। परन्तु मालूम होता है कविकी सर्वप्रथम रचना जम्बूस्वामिचरित है, और इसी रचनाके ऊपरसे इन्होंने 'कवि' की प्रख्याति प्राप्त की। इसके बाद किसी कारणसे कविको आगरेसे वैराट नगरमें जाना पड़ा, और वहाँ जाकर इन्होंने जम्बूस्वामिचरितके नौ वर्ष बाद लाटीसंहिताका निर्माण किया। जम्बूस्वामिचरितके कई पद्य भी लाटीसंहितामें अक्षरशः अथवा कुछ परिवर्तनके साथ उपलब्ध होते हैं। पंचाध्यायी और अध्यात्मकमलमार्त्तण्ड कविकी इन रचनाओंके बादकी ही कृतियाँ जान पड़ती हैं। मालूम होता है जैसे जैसे कवि राजमल्ल अवस्था और विचारोंमें प्रौढ़ होते गये, वैसे वैसे उनकी रुचि अध्यात्मकी ओर बढ़ती गई। फलतः उन्होंने अपने आत्म-कल्याणके लिये इन दोनों ग्रन्थोंका निर्माण किया। अब इन दोनोंमें संभव है कि पंचाध्यायी पहिले बनी हो, और उसके संक्षिप्त सारको लेकर

---

१ पं० जुगलकिशोरजीने लाटीसंहिता और पंचाध्यायीमें ४३८ समान पद्योंके पाये जानेका उल्लेख अपनी उक्त भूमिकामें किया है। इन पद्योंका लाटीसंहितामेंसे ही उठाकर पंचाध्यायीमें रक्खा जाना अधिक संभव जान पड़ता है।

अध्यात्मकमलकी रचना की हो, अथवा यह भी संभव है कि पहिले अध्यात्मकमलकी रचना हो चुकी हो तथा कविने पंचाध्यायीका निर्माण आरंभ कर दिया हो और असमयमें ही वे काल-धर्मको प्राप्त हो गये हों।

इन चार कृतियोंके अतिरिक्त संभव जान पड़ता है कि कविने और भी रचनाओंका निर्माण किया है और उन रचनाओंमें किसी एक गद्यकी कृतिके होनेका भी अनुमान है।

जैन-साहित्यमें जम्बूस्वामीका स्थान

दिगम्बर और श्वेताम्बर-परम्परामें जम्बूस्वामीका नाम बहुत महत्त्वके साथ लिया जाता है। महावीर स्वामीके निर्वाणके पश्चात् गौतम, सुधर्मा और जम्बूस्वामी इन तीन केवलियोंका होना दोनों ही आम्नायोंको मान्य है। इसके बाद ही दोनों सम्प्रदायोंकी परम्परामें भेद पाया जाता है। दिगम्बर-परम्परामें जम्बूस्वामीके पश्चात् विष्णु, नन्दी, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु, तथा श्वेताम्बर-परम्परामें प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, आर्यसंभूतविजय और भद्रबाहु इन पाँच श्रुतकेवलियोंके नाम आते हैं। जो कुछ भी हो, जम्बूस्वामी दोनों संप्रदायोंमें अन्तिम केवली स्वीकार किये गये हैं और इसी कारण दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों विद्वान् इनका जीवनचरित लिखनेमें प्रवृत्त हुए हैं। श्वेताम्बर वाङ्मयमें सर्वप्रथम पयन्ना (प्रकीर्णक) साहित्यमें जम्बूपयन्नाका नाम आता है। श्वेताम्बर जैन कान्फरेन्सद्वारा प्रकाशित जैन-ग्रंथावलिसे विदित होता है कि जम्बूपयन्नाकी यह प्रति डेक्कन कालेज पूनाके भंडार (भांडारकर इन्स्टिट्यूट) में मौजूद है। इसके कर्त्ताका नाम अविदित है। श्लोकके कॉलममें 'पत्र ४५ लाइन ५'

लिखा हुआ है। इसके पश्चात् अन्य श्वेताम्बर विद्वानोंने भी जम्बूस्वामिचरितका निर्माण किया है, परन्तु इनमें कलिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्र आचार्य और जयशेखरसूरिका नाम विशेष महत्त्वका है। हेमचन्द्र १२ वीं शतब्दिके प्रसिद्ध आचार्य हो गये हैं। इन्होंने अपने परिशिष्ट पर्वके आदिके चार अध्यायोंमें जम्बूस्वामीका चरित लिखा है। जयशेखरसूरिका समय वि० सं० १४३६ है। ये कवि-चक्रवर्तीके नामसे प्रसिद्ध हो गये हैं। इन्होंने ६ प्रकरणोंमें ७२६ श्लोक-प्रमाण जम्बूस्वामिचरित नामक काव्यकी रचना की है।

दिगम्बर-साहित्यमें भी प्राकृत और संस्कृत भाषामें कई जम्बूस्वामि-चरित होनेका अनुमान किया जाता है। उक्त जैन-ग्रन्थावलिमें प्राकृत संस्कृत और गद्यमें लिखे हुए नौ जम्बूस्वामिचरित और कथानकोंका उल्लेख किया गया है और उनमें पाँच ग्रन्थकर्ताओंके तो नाम भी दिये हैं। ये नाम निम्न प्रकारसे हैं— पं० सागरदत्त, भुवनकीर्ति, पद्मसुन्दर, सकलहर्ष और मानसिंह। इन सब ग्रन्थकर्ताओंका विशेष परिचय नहीं दिया गया है। भुवनकीर्तिके विषयमें लिखा है—'भुवनकीर्ति सकलचन्द्रके शिष्य थे'। यद्यपि भुवनकीर्ति श्वेताम्बर आम्नायमें भी हो गये हैं, परन्तु प्रस्तुत भुवनकीर्ति दिगम्बर-परम्पराके ही मालूम होते हैं। प्रो० वेबर (Waber) ने सकलचन्द्रका समय १५२० वि० सं० लिखा है। संभवतः भुवनकीर्तिने इस काव्यको विक्रमकी सोलहवीं शताब्दिमें लिखा है। यह प्रति राधनपुरमें मौजूद है। दिगम्बर आम्नायमें कवि राजमल्लके अतिरिक्त जिनदासने भी हिन्दीमें छन्दोबद्ध जम्बूस्वामिचरितकी रचना की है। संभवतः ये जिनदास वही ब्रह्मचारी जिनदास हैं जो सकलकीर्तिके

शिष्य थे। इस पुस्तकको जिनदासने किसी संस्कृत काव्यके आधारसे रचा है[1]। इसमें और पं० राजमल्लके जम्बूस्वामीके कथानकमें कुछ अंतर्कथामें भेद भी पाया जाता है।

जम्बूस्वामीकी कथा

जम्बूद्वीप-भरतक्षेत्रमें मगध नामक देश है। उसमें श्रेणिक नामका राजा राज्य करता था। एक दिन राजा श्रेणिक सभामें बैठे हुए थे। वनपालने आकर विपुलाचल पर्वतपर वर्धमान स्वामीके समवशरणके आनेका समाचार दिया। श्रेणिक सुनकर परम आनन्दित हुए और उन्होंने अपने सैन्य, कुटुम्ब आदिके साथ भगवान्का दर्शन करनेके लिये प्रयाण किया। श्रेणिक वर्धमान स्वामीको नमस्कार करके बैठ गये और उन्होंने तत्त्वोपदेश सुननेकी अभिलाषा प्रकट की। श्रेणिकने तत्त्वोपदेशका श्रवण किया। इतनेमें कोई तेजोमय देव आकाश-मार्गसे अवतरित होता हुआ दृष्टिगोचर हुआ। श्रेणिक राजाके द्वारा इस देवके विषयमें पूँछे जानेपर गौतम स्वामीने उत्तर दिया कि इसका नाम विद्युन्माली है और यह अपनी चार देवांगनाओंके साथ यहाँ

---

१ इस पुस्तकको मुन्शी नाथूराम लमेचूने सन् १९०२ में लखनऊमें छपाया था। इसीके आधारसे मास्टर दीपचंदजीने इसे हिन्दी गद्यमें किया है, जो सूरतमें छपा है।

२ हेमचन्द्र आचार्यकी कथानुसार महावीरकी वन्दना करनेके लिये जाते हुए दो सैनिक मार्गमें तपश्चरण करते हुए प्रसन्नचन्द्र मुनिको देखकर उसके तपके विषयमें कुछ चर्चा करते हैं। बादमें उसी मार्गसे जाते हुए श्रेणिक राजा उस मुनिको वन्दना करके समवशरणमें पहुंचकर गौतम स्वामीसे उक्त मुनिके विषयमें प्रश्न करते हैं। गौतम स्वामी इस प्रश्नके उत्तरमें पोतनपुरके राजा सोमचन्द्र तथा उनके प्रसन्नचन्द्र और वल्कलचीरी नामके दो पुत्रोंकी कथाको विस्तारसे कहते हैं। यह कथा बहुत रोचक है। इसके लिये पाठकोंको परिशिष्टपर्व देखना चाहिये।

वन्दना करनेके लिये आया है। यह आजसे सातवें दिन स्वर्गसे चय-
कर मध्य लोकमें उत्पन्न होकर उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करेगा। श्रेणिकने
इस देवके विषयमें विशेष जाननेकी अभिलाषा प्रगट की। गौतम स्वामी
कहने लगे:—" इसी देशमें वर्धमान नामक एक नगर है। उसमें
आर्यवसु नामका एक ब्राह्मण रहता था। उसकी स्त्रीका नाम सोम-
शर्मा था। इस दंपतिके भावदेव[1] और भवदेव नामके दो पुत्र हुए।
इन दोनोंने विद्यामें अति निपुणता प्राप्त की। कुछ समय बाद आर्यवसु
कुष्ठ रोगसे पीड़ित हुआ और परलोक सिधार गया। सोमशर्माने भी
पतिके वियोगसे अत्यन्त दुःखी होकर चितामें प्रवेश करके अपने
प्राणोंका त्याग किया। कुछ दिन बीतनेके पश्चात् उस नगरमें सौधर्म
नामके मुनिका आगमन हुआ। मुनिने धर्मका उपदेश दिया। भावदेवने
भी इस धर्मका श्रवण किया और सुनकर मुनिसे दीक्षा लेने-
की अभिलाषा प्रकट की। भावदेव दीक्षित होकर तपस्या करने लगे।
कुछ समय बीतनेपर एक दिन सौधर्म मुनि संघसहित वर्धमान नगरमें
पधारे। भावदेवको अपने कनिष्ठ भ्राताके ऊपर करुणा उत्पन्न हुई।
वे गुरुकी आज्ञा लेकर भवदेवको बोध देनेके लिये चले। उस समय
भवदेव अपने विवाहके उत्सवमें संलग्न थे। भवदेवने अपने ज्येष्ठ भ्राताको
मुनिके वेषमें देखकर उसका बहुत आदर किया। भवदेवने धर्म-श्रवण
करनेके पश्चात् मुनिको आहार दिया। जब मुनि विहार करने लगे,
उस समय और लोगोंके साथ भवदेव भी उनके पीछे पीछे चले। थोड़े

---

१ जयशेखरसूरिके जम्बूस्वामिचरितमें यहींसे कथाका आरंभ होता है। इसके
पूर्वका भाग उसमें नहीं पाया जाता। हेमचन्द्र और जयशेखर दोनोंके अनुसार
भावदेवकी जगह बड़े भाईका नाम भवदत्त आता है। तथा ये सुग्राम नगरके रहने-
वाले थे, और इनके पिताका नाम आर्यवान तथा माताका नाम रेवती था।

समयमें दोनों जने गुरुके पास पहुँचे गये। यह देखकर सब मुनि भावदेवकी प्रशंसा करने लगे। भवदेवको उपायान्तर न होनेसे दीक्षा लेनेके लिये बाध्य होना पड़ा। कुछ दिनों पश्चात् सौधर्म मुनि फिर वर्धमान नगरमें आये। भवदेव अपनी स्त्रीका विचार करके वहाँ एक जिनालयमें पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक अर्जिकाको देखा। उससे उन्होंने अपनी स्त्रीके संबंधकी कुशल-वार्ता पूँछी। अर्जिकाने मुनिके चित्तको चलायमान देखकर उन्हें धर्ममें स्थिर किया और कहा कि वह आपकी स्त्री मैं ही हूँ। भवदेव छेदोपस्थापना-पूर्वक चारित्रमें फिरसे तत्पर हुए। अन्तमें दोनों भाई मरकर सनत्कुमार स्वर्गमें देव हुए। भावदेव स्वर्गसे च्युत होकर पुंडरीकिणी नगरीमें वज्रदन्त नृपतिके घर सागरचन्द्र नामका, और भवदेव वीतशोका नगरीमें महापद्म चक्रवर्तीके घर शिवकुमार नामका पुत्र हुआ। ये दोनों युवा होकर भोगोंके भोगनेमें मग्न हो गये। एक बार पुण्डरीकिणीमें कोई मुनि पधारे। सागरचन्द्रने मुनिका उपदेश श्रवण किया। पश्चात् मुनिने उन दोनों भाईयोंके पूर्वभवोंका वर्णन किया। सागरचन्द्रने संसारके भोगोंसे विरक्त होकर जिनदीक्षा ग्रहण की। तत्पश्चात् अपने भाईको बोध करनेके लिये सागरचन्द्र वीतशोका नगरीमें गये, और

---

१ इस कथा-भागमें भी श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्परामें कुछ भेद पाया जाता है। उक्त श्वेताम्बर विद्वानोंके अनुसार जिस समय भवदत्त (भावदेव) अपने लघु भ्राताको बोध देनेके लिये आये, उस समय वहाँके वातावरणको देखकर स्वयं भवदत्तका ही महाव्रत जर्जरित हो जाता है। वे वापिस लौट आते हैं, और दूसरे साथी मुनि इसपर भवदत्तका उपहास करते हैं। भवदत्त फिरसे भवदेवको दीक्षित करनेकी प्रतिज्ञा करके उसके पास जाते हैं, और उसे किसी तरह गुरुके पास लाकर दीक्षित करते हैं।

उन्हें देखकर शिवकुमारको जातिस्मरण हो आया। शिवकुमारने अपने माता पितासे दीक्षा लेनेकी अनुमति माँगी, परन्तु उन्होंने दीक्षाकी अनुमति न दी। शिवकुमार ६४००० वर्षतक घरमें तपश्चर्या करते हुए रहने लगे। अन्तमें सागरचन्द्र और शिवकुमार दोनोंके जीव ब्रह्मोत्तर स्वर्गमें गये। शिवकुमार तपश्चरणके प्रभावसे विद्युन्माली नामका यह देव हुआ है।"

तत्पश्चात् श्रेणिक राजाने विद्युन्मालीकी चार देवियोंके विषयमें विशेष जाननेकी जिज्ञासा प्रकट की। गौतम स्वामीने कहा कि चंपापुरी नामकी नगरीमें सूरसेन नामक कोई सेठ रहता था। इसके चार स्त्रियाँ थीं। पापोदयसे सेठका शरीर रोगग्रस्त हो गया। वह अपनी स्त्रियोंको मारने पीटने लगा और उन्हें नाना प्रकारके कुत्सित वचन बोलने लगा। स्त्रियोंने अति दुःखित होकर अर्जिकाके व्रत ग्रहण किये। ये देवियाँ मरकर इसी स्वर्गमें विद्युन्मालीकी देवियाँ हुई हैं।

श्रेणिक राजाके विद्युच्चरके विषयमें प्रश्न करनेपर गौतम स्वामीने कहा कि हस्तिनापुरके संवर नामके राजाके विद्युच्चर नामका पुत्र हुआ। विद्युच्चरने सब विद्याओंमें कुशलता प्राप्त की थी। एक चौर्य-विद्या ही ऐसी रह गई थी जो उसने नहीं सीखी थी। राजाने विद्युच्चरको बहुत समझाया, पर उसने चोरी करना न छोड़ा। विद्युच्चर राजगृह नगरमें जाकर कामलता वेश्याके साथ रमण करते हुए समय व्यतीत करने लगा। गौतम स्वामीने कहा कि यह विद्युन्माली देव राजगृह नगरीमें अर्हद्दास नामक सेठके पुत्र होगा, और उसी भवसे मोक्ष जावेगा।

यह कथन हो ही रहा था कि इतनेमें एक यक्ष वहाँ आकर

नृत्य करने लगा। श्रेणिकके इसके नाचनेका कारण पूछा तो गौतम स्वामीने उत्तर दिया कि यह यक्ष अर्हद्दासका लघु भ्राता था। यह सप्त व्यसनमें आसक्त था। एक बार यह जूएमें द्रव्य हार गया और इस द्रव्यको न दे सकनेके कारण दूसरे जुआरीने इसे मार मारकर अधमरा कर दिया। अर्हद्दासने इसे अन्त समय नमस्कार-मंत्र सुनाया, जिसके प्रभावसे वह मरकर यक्ष हुआ है। यक्ष यह सुनकर हर्षसे नृत्य कर रहा है कि उसके भ्राता अर्हद्दासके अंतिम केवलीका जन्म होगा।

यहाँसे, पाँचवें पर्वसे, असली जम्बूस्वामीका चरित आरंभ होता है। अर्हद्दासके घर जम्बूकुमारका जन्म हुआ। जम्बूकुमार युवा हुए। उनकी श्रीमंत सेठोंकी चार कन्याओंके साथ सगाई हो गई। उन्होंने मदोन्मत्त हाथीको वशमें करके अपनी वीरता प्रकट की। जम्बूकुमारने एक बार रत्नचूल नामके विद्याधरको पराजित करके मृगांक विद्याधरकी सहायता की, जिससे मृगांकने अपनी पुत्रीका श्रेणिक राजाके साथ विवाह किया। तत्पश्चात् जम्बूकुमार सौधर्म नामक मुनिसे, जो भवदेवका जीव था, भवान्तर सुनकर वैराग्यको प्राप्त हुए। जम्बूकुमारने माता पितासे प्रव्रज्या लेनेकी अनुमति माँगी। माता पिताने बहुत समझाया, पर जम्बूकुमार न माने। अन्तमें पिताकी आज्ञाको शिरोधार्य करके उन्होंने विवाह करनेके एक दिन बाद दीक्षा ले लेनेका निश्चय किया। खूब ठाठ-बाटसे जम्बूकुमारका विवाह हो गया। चारों स्त्रियोंने अनेक हाव-भावोंसे जम्बुकुमारको विषय-भोग भोगनेके लिये आकर्षित किया, पर वे मेरुके समान अडोल और दृढ़ रहे। बादमें वहाँ विद्युच्चर चोर भी पहुँच गया। चारों नव-विवाहिता वधुओं और

विद्युच्चर तथा जम्बूकुमारका बहुत रोचक संवाद हुआ। अन्तमें जम्बूस्वामीकी विजय हुई। उन्होंने जिन-दीक्षा ग्रहण की। साथमें विद्युच्चरको भी उपदेश लगा। वह भी अनेक लोगोंके साथ दीक्षित हुआ। अन्तमें ये दोनों अनेक मुनियोंके साथ विपुलाचल पर्वतपर निर्वाणको पधारे।

मूल प्रतियाँ

अन्तमें कुछ शब्द मूल प्रतियोंके विषयमें भी लिख देना उचित है। जम्बूस्वामिचरित देहलीके सेठके कूचेवाले जैनमंदिरकी प्रतिके ऊपरसे संपादित किया गया है। इसके लिये इसके प्रेषक बाबू पन्नालालजी अग्रवालको अनेक धन्यवाद हैं। इस प्रतिके ऊपर कोई संवत् नहीं है। फिर भी यह प्रति प्राचीन मालूम होती है। यह बीचमेंसे कई स्थलोंपर त्रुटित भी है। बहुत प्रयत्न करनेपर भी इस पुस्तककी दूसरी कोई प्रति न मिलनेसे, इसी एक और सो भी अशुद्ध प्रतिके आधारसे ग्रन्थका सम्पादन करना पड़ा है। मूल प्रतिके जो पाठ अशुद्ध जान पड़े, उन्हें मूल पाठमें रखकर कोष्ठकमें शुद्ध पाठ दिया

---

१ हेमचन्द्र और जयशेखरके कथानकमें जम्बूकुमारके पिताका नाम ऋषभदास और माताका नाम धारिणी आता है। तथा जम्बूकुमारका चार कन्याओंकी जगह आठ कन्याओंके साथ विवाह होता है। इन कथानकोंमें विद्युच्चरकी जगह प्रभवचोरका नाम आता है। (पं० राजमल्लके जम्बूस्वामिचरितमें भी—' प्रभवादिसुसंज्ञका: '—प्रभवका नाम आता है, पर ये कौन थे, इसका इसमें कुछ जिकर नहीं आता)। इसके अतिरिक्त जम्बूकुमार और उनकी स्त्रियों तथा प्रभवके बीचमें जो संवाद हुए उनमें कुबेरदत्त, महेश्वरदत्त, अंगारकारक, शंखधमक, विद्युन्माली, बुद्धिसिद्धि, अश्व, ललितांग आदिकी कथायें आती हैं, जो पं० राजमल्लके जम्बूस्वामिचरितमें नहीं पाई जातीं। हेमचन्द्र और जयशेखरसूरिकी अंतर्कथाओंमें भी कुछ सामान्य हेर फेर पाया जाता है।

गया है। इसकी और अध्यात्मकमलमार्त्तंडकी प्रेस-कापी नातेपूते (शोलापुर) के अध्यापक पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीके द्वारा तैयार कराई गई थी।

अध्यात्मकमलमार्त्तण्डकी दो ही प्रतियाँ उपलब्ध हो सकीं। एक सरस्वती-भवन बम्बईकी और दूसरी प्रति पं० नाथूराम प्रेमीजीके पास की। सरस्वती-भवनकी प्रतिके लेखकने उसकी भांडारकर इन्स्टिट्यूटकी सं० १६६३ वैशाख सुदी १३ शनिवारके दिन लिखी हुई प्रतिके आधारसे नकल की है। मालूम नहीं मूल प्रतिके इतनी प्राचीन होनेपर भी यह प्रति इतनी अशुद्ध क्यों है? संभव है नकल करनेमें लेखक महाशयकी कृपा हुई हो। दूसरी प्रति सं० १८४४ श्रावण कृष्णा षष्ठीके दिनकी लिखी हुई है। इस प्रतिके ऊपर रबरकी मोहर मारी हुई है, जिसपर ' भट्टारक श्री महेश्वरकीरतीजी, सवाई जयपुर संवत् १९३९ ' खुदा हुआ है। दुर्भाग्यसे यह प्रति भी शुद्ध नहीं है। इस प्रतिके लेखक सुरेन्द्रकीर्ति भट्टारक हैं। यह जिनदास पंडितकी अशुद्ध प्रतिके आधारसे शीघ्रतामें, सर्वसुख नामके छात्रके लिये, जिस समय वृन्दावती नगरीमें व्यसनहरि (?) नृपका राज्य था, पार्श्वनाथके मन्दिरमें लिखी गई है। इस प्रतिमें लगभग दो परिच्छेदोंके ऊपर टिप्पणी भी है। मालूम नहीं यह अधूरी टिप्पणी स्वयं पं० राजमल्लकी है अथवा किसी दूसरे विद्वान्‌की। इन दोनों प्रतियोंके खास खास पाठांतरोंको फुटनोटमें दे दिया गया है।

जुबिलीबाग, तारदेव
बम्बई
९।१०।३६ } जगदीशचन्द्र

नमः श्रीवीतरागाय

पण्डितराजमल्लविरचितं

जम्बूस्वामिचरितम्

उद्दीपी (प्ती ?) कृतपरमानंदाद्यात्मचतुष्टयं च बुधाः ।
निगदंति यस्य गर्भाद्युत्सवमिह तं स्तुवे वीरम्[1] ॥ १ ॥
बहिरंतरंगमंगं संगच्छद्भिः स्वभावपर्यायैः ।
परिणममानः शुद्धः सिद्धसमूहोऽपि वो श्रियं दिशतु ॥ २ ॥
चरित्रमोहारिविनिर्जयाद्यतिर्विरज्य शय्याशयनाशनादपि ।
व्रतं तपःशीलगुणांश्च धारयंस्त्रयीव जीयाद्यदि वा मुनित्रयी[2] ॥३॥
रवेः करालीव विधुन्वती तमो यदांतरं स्यात्पदवादिभारती ।
पदार्थसार्थी पदवीं ददर्श या मनोम्बुजे मे पदमातनोतु सा ॥४॥
अथास्ति दिल्लीपतिरद्भुतोदयो दयान्वितो बब्बरनंदनंदनः ।
अकब्बरः श्रीपदशोभितोऽभितो न केवलं नामतयार्थतोऽपि यः ५
अस्ति स्म चाद्यापि विभाति जातिः परा चगत्ताभिधया पृथिव्याम्
परंपराभूरिव भूपतीनां महान्वयानामपि माननीया ॥ ६ ॥

---

१ ज्ञानानन्दात्मानं नमामि तीर्थंकरं महावीरम् ।
यच्चिति विश्वमशेषं व्यदीपि नक्षत्रमेकमिव नभसि ॥ लाटीसंहितायाम् १–२ ।

२ त्रयीं नमस्यां जिनलिङ्गधारिणां सतां मुनीनामुभयोपयोगिनाम् ।
पदत्रयं धारयतां विशेषसात् पदं मुनेरद्विनयादिहार्थतः ॥ लाटीसंहितायाम् १–४ ।

तदत्र जातावपि जातजन्मनः समेकछत्रीकृतदिग्वधूवरान् ।
प्रकाशितुं नालमिहानुभूभुजः कवीन्द्रवृंदो लसदिंदुकीर्तिः ॥ ७ ॥
अतः कुतश्चित् कृतसाहिसंज्ञकः स माननीयो विधिवद्विपश्चिताम् ।
यथा कथा बाबरवंशमाश्रिता प्रकाश्यते सद्भिरथो निरंतरम् ॥८॥
सुश्रीर्बाबरपातिसाहिरभवन्निर्जित्य शत्रून्बला–
द्दिल्लीशोऽपि समुद्रवारिवसनां क्षोणीं कलत्रायताम् ।
कुर्वन्नेकबलो दिगंगजमलं क्रीडन् यथेच्छं विभुः
स्याद्भूपालकपालमौलिशिखरस्थायीव स्रग्यद्यशः ॥ ९ ॥
तत्पुत्रोऽजनि भानुमानिव गिरेराक्रम्य भूमंडलं
भूपेभ्यः करमाहरन्नपि धनं यच्छन् जनेभ्योऽधिकम् ।
उद्गच्छत्स्वकरप्रतापतरसा मात्सर्यमब्धेरधः
प्रज्ञापालतया जडत्वमहरन्नाम्ना हुमाऊनृपः ॥ १० ॥
तत्सूनुः श्रियमुद्वहन् भुजबलादेकातपत्रो भुवि
श्रीमत्साहिरकब्बरो वरमतिः साम्राज्यराजद्वपुः ।
तेजःपुंजमयो ज्वलज्ज्वलनजज्वालाकरालानलः
सर्वारीन् दहति स्म निर्दयमना उन्मूल्य मूलादपि ॥ ११ ॥

शशीव दीप्तः किल शैशवेऽपि यः
कलाकलापैर्ववृधे समुज्ज्वलैः ।

१ आसीदुग्रसमग्रवंशविदिता या स्वर्धुनीवामला
नानाभूपतिरत्नभूरिव परा जातिश्चगत्ताभिधा ।
तस्यां बाबरपातिसाहिरभवन्निर्जित्य शत्रून् बला–
द्दिल्लीमण्डलमण्डितात्मयशसा पूर्णप्रतापानलः ॥ लाटीसंहितायाम् १–५९ ।

तदापि नम्रीकृतभूमिपालकः
कपालमालामभिभिंद्य विद्विषाम्[1] ॥ १२ ॥
ततः क्रमाद्यौवनमाश्रितो वय-
स्तदा द्रवन् संगरसंगतः क्षणात् ।
स्त्रियोऽपि कंदर्प्पमपत्रपारते
द्विषश्च वह्नाविव तापसंज्ञके ॥ १३ ॥
गजाश्वपादातिरथादिकेषु श्री[2]
मंत्रासिदुर्गद्रविणेषु[3] कोटिषु ।
लिलेख लेखां भवितव्यताश्रितो
बलं स्ववसाद्विक्रममात्रसंभवम्[4] ॥ १४ ॥
लब्धावकाशादथवा प्रसंगा-
द्यतो हता दुर्जनकिंकराकराः ।
तदत्र नामापि न गृह्यते मया
लघुप्रहाणौ ननु पौरुषं कियत् ॥ १५ ॥
अथास्ति किंचिद्यदि चित्रकूटक-
मुत्ख्यातिलेखीकृतचित्रकूटकम् ।
अतोरणस्तंभमवाप हेलया
किमद्भुतं तत्र समानमानतः ॥ १६ ॥
जगज्ज (जे) गाजी गुजरातमध्यगो मृगाधिपादप्यधिकः प्रभावतः ।
मदच्युतो वैरिगजस्तदानीमितस्ततो याति पलायमानः ॥ १७ ॥

---

१ शत्रूणाम् । २ अकब्बरः । ३ द्रव्येषु । ४ स्वाधीनं कृतवान् । इति हस्तलिखितपुस्तकटिप्पण्याम् ।

ततोऽपि धृत्वा गिरिगह्वरादितः श्रिता वधं केचन बंधनं क्षणात् ।
महाहयो मंत्रवलादिवाहताः प्रपेतुरापन्निधिसंनिधानके ॥ १८ ॥
न केवलं दिग्विजयेऽस्य भूभृतां सहस्रखंडैरिह भावितं भृशम् ।
भुवोऽपि निम्नोन्नतमानयानया चलच्चमूभारभरातिमात्रतः॥१९॥
अपि क्रमात्सूरतिसंज्ञको गिरेरपांनिधेः संनिधितः समत्सरः ।
कदापि केनापि न खंडितो यतस्ततोऽस्ति दुर्गो बलिनां हि दुर्जयः
अनेन सोऽपि क्षणमात्रवेगादनेकखंडैः कृतजर्जरो जितः ।
विलंघ्य वार्द्धिं रघुनाथवत्तया परं त्रिशेषः कलिकौतुकादिव ॥२१॥
अवापुः के(श्चित्)रिपवः पयोनिधेः परं तटं कोटिभटा नटंतः ।
ततोऽस्य मन्ये न कुतोऽप्यपूर्यत प्रचंडदोर्विक्रमप्रक्रमोद्भवम् ॥२२॥
शिते[1] कृपाणेऽस्य विदारितारितः (णः ?)
पलाशनात्कुर्वति पानमब्धितः ।
ततोऽधिकं क्षारतया वुभुक्षितः जगत्त्रयं त्रासमगादनेहसः[2] ॥२३॥
तथाविधोऽप्युद्धतवीरकर्मणि दयालुता चास्य निसर्गताऽभवत् ।
क्रमेण युगपन्नवधा रसाः स्फुटमचिन्त्यचित्रा महतां हि शक्तयः२४
प्रपालयामास प्रजाः प्रजापतिरखंडदंडं यदखंडमंडलम् ।
अखंडलश्चंडवपुः सुरालयं श्रितामरानेव स बंधुबुद्धितः ॥ २५ ॥
करं न मेने जगतोऽतिदुष्करं परंतुकेलौ यदि योषितां मृदुम् ।
मदं न जग्राह कुतोऽपि कारणादपि द्विपेन्द्रानिह तद्वतोऽथवा[3] २६
मुमोच शुल्कं त्वथ जेजियाभिधं स यावदंभोधरभूधराधरम् ।
धराश्च नद्यः सरितांपतेः पयः यशःशशीश्रीमदकब्बरस्य च २७
वधेनमेतद्वचनं तदास्यतो न निर्गतं क्वापि निसर्गतं श्वि(तश्चि?)तिः[4]
अनेन तद्भूतमुदस्तमेनसः सुधर्मराजः किल वर्ततेऽधुना ॥ २८ ॥

१ तीक्ष्णे । २ कालः । ३ मदवतः । ४ धरास्पदं यः इति वा पाठः ।

प्रमादमादाय जनः प्रवर्तते कुधर्मवर्गेषु यतः प्रमत्तधीः ।
ततोऽपि मद्यं तदवद्यकारणं निवारयामास विदांवरः स हि ॥२९॥
अशेषतः स्तोतुमलं न मादृशो समानदानादिगुणानसंख्यतः ।
ततोऽस्य दिग्मात्रतयाशितुं क्षमे पयोधितो वा जलमंजलिस्थितम्
चिरं चिरंजीव चिरायुरायतौ प्रजाशिषः संततमग्रिमाग्रिमम् ।
यथाभिनंदुर्वसुधासुधाधिपं कलाभिरेनं परया मुदा मुदे ॥ ३१ ॥
अथाधिपानामिव राजपत्तनं महानिहास्ति नगराधिपाधिपः ।
येनाधिछत्रं मनुते स्म भूपतिः समस्तवस्त्वाकर आगराख्यया ३२
यदीयशालः सुविशालतामयो दिवं दिदृक्षुः सुरनिम्नगामिव ।
शिलोच्चयोदुंबरमंबरं नयन् वपुस्तदुच्चैःपदमारुरोहयत् ॥ ३३ ॥
यदभ्रमभ्रंलिहसौधमंडलीशिरःस्खलद्वारहयादहर्पतिः ।
पदं चकारोत्तरदक्षिणायने स भीतभीतोऽत्र यतस्तिरोवति ॥३४॥
नानाभनैःसमाकीर्णं सरितां सलिलैरिव ।
सघोषैरतिगंभीरैरुद्गर्जतमिवोर्म्मिभिः ॥ ३५ ॥
महद्भिश्च महाभागे रत्नालोकैर्महर्घितम् ।
गजाश्वादिघनाघातैर्यादोभिरिव दुर्घटम् ॥ ३६ ॥
पंकजाननसंचारैर्दधंतं कमलाकृतिम् ।
तन्नूपुररणत्कारहंसैरारचितं क्वचित् ॥ ३७ ॥
तद्धासादिविलासाद्यैर्वीक्षितैरमृतास्पदम् ।
भस्राकारकरोद्भूतप्रज्वलद्वाडवानलम् ॥ ३८ ॥
सांयात्रिकवणिक्पुत्रैः पोतस्थैरिव संस्थितम् ।
महामौल्यानि वस्तूनि नीत्वा गच्छद्भिरात्मनः ॥ ३९ ॥

१ मत्स्यैरिव । २ सम्यक् यात्रायै अलं इति सांयात्रिकः ।

भिन्ननामानि गृह्णंतमापणानि बहूनि वै।
अंतरीपाणि तानीव सवस्तूनि पृथूनि च ॥ ४० ॥
सौधस्थितमहोत्तुंगकेतुमालाभिराप्लुतम् ।
पतत्रिभिः समुड्डीनं वद्धपंक्त्येव शोभितम् ॥ ४१ ॥
राजनीतिमहामार्गादुत्पथापथगामिनाम् ।
निग्रहात्साधुवर्गाणां संग्रहात्सारसंग्रहम् ॥ ४२ ॥
चतुर्दिक्षु महावीथ्योऽप्यंतर्वीथ्यस्ततोऽपराः ।
इति कश्चिद्भवेद् भ्रांतो भ्रमावर्त्तमिव श्रितम् ॥ ४३ ॥
राज्ञो यशः शशांकेन वर्द्धमानं दिनं दिनम् ।
वर्णयामि कथं चैनं नगरेशं महार्णवम् ॥ ४४ ॥
परं कश्चिद्विशेषोऽत्र नीचत्वं जलतात्मता ।
तावदुच्चैःपदारूढं कनकाद्रिमिवोन्नतम् ॥ ४५ ॥
जात्यजाम्बूनदाकारं सौधाऽग्राग्रैः सचूलिकम् ।
गायन्तीकिन्नरीभिश्च निषेव्यं विबुधाधिपैः ॥ ४६ ॥
द्रुमैः पर्य्यन्तभूभागभूषणैर्भूषितं क्वचित् ।
रम्यैः फलाढ्यसच्छायैर्नन्दनादिवनैरिव ॥ ४७ ॥
गजदंतसमाकारैर्दन्तिदंतैः सुविस्तृतम् ।
पंचवर्णमयै रत्नैः क्वचित्किर्म्मीरितं[3] भृशम् ॥ ४८ ॥
चतुर्दिगंगभागेषु मध्यगं वलयाकृतिम् ।
ज्योतिर्देवविमानैश्च सुभटैरिव सेवितम् ॥ ४९ ॥
जिनचैत्यगृहैः सांगैः शुद्धैरिव समन्वितम् ।
तत्रस्थैर्जिनबिम्बैश्च पूतं रत्नमयैः स्वतः ॥ ५० ॥

१ वारिणोऽन्तर्मध्ये यत् तटं तत् । २ पक्षिभिः । ३ चित्रितम् ।

जन्माभिषेकमादाय जिनार्चादिमहोत्सवे ।
गंधोदैरिव राजंतं शैलमूर्ध्नि यथामरैः ॥ ५१ ॥
कालिंदीसरिदंभांसि नेतुं संबद्धपंक्तिभिः ।
नाकिनाथैरिवाहूतं कैश्चिच्छांतिककर्मणि ॥ ५२ ॥
जयनादमहाघोषैरित्यादिस्तुतिभिः सदा ।
श्रूयमाणं महाभागैः श्रावकैर्यतिभिः समम् ॥ ५३ ॥
कैश्चिद्गच्छद्भिरात्मानमुपादेयमतः परम् ।
हेयं सर्वमिहारूढं धर्मध्यानावलंबिभिः ॥ ५४ ॥
इत्यादिभिर्विशेषैश्च ज्ञातुमक्षमकैर्मया ।
सर्वैरशेषतः पूर्णं निरवशेषतया दधे ॥ ५५ ॥ (कुलकम्)
तत्र(?)ठक्कुरसंज्ञकश्च अरजानीपुत्र इत्याख्यया
कृष्णामंगलचौधरीति विदितः क्षात्रः स्ववंश्या(शा)धिपः ।
श्रीमत्साहिजलालदीननिकटः सर्वाधिकारक्षमः
सार्वः सर्वमयः प्रतापनिकरः श्रीमान् सदास्ते ध्रुवम् ॥ ५६ ॥
येनाकारि महारिमानदमनं वित्तं बृहच्चार्जितम्
कालिंदीसरिदंबुभिः सविधिना स्नात्वाथ विश्रांतिके ।
तामारुह्य तुलामतुल्यमहिमां सौवर्ण्यशोभामयी-
मैन्द्रश्रीपदमात्मसात्कृतवता संराजितं भूतले ॥ ५७ ॥
तस्याग्रे गढमल्लसाहुमहती साधूक्तिरन्वर्थतां
यस्मात्स्वामिपरं वलेशमपि तं गृह्णाति न काप्ययम् ।
श्रीमद्वैष्णवधर्म्मकर्म्मनिरतो गंगादितीर्थे रतः
श्रीमानेष परोपकारकरणे लभ्याच्छ्रियं शाश्वतीम् ॥ ५८ ॥

१ कलिंदाद्रौ भवा कालिंदी यमुना । २ गृहणीयम् ।

तयोर्द्वयोः प्रीतिरसामृतात्मकः स भाति नाना-टकसार-दक्षकः ।
कथं कथायां श्रवणोत्सुकः स्यादुपासकः कश्च तदन्वयं वदे ॥५९॥
श्रीमेति काष्ठासंघे माथुरगच्छेऽथ पुष्करे च गणे ।
लोहाचार्यप्रभृतौ समन्वये वर्त्तमानेऽथ ॥ ६० ॥
तत्पट्टे परममलयकीर्तिदेवास्ततः परं चापि ।
श्रीगुणभद्रः सूरिर्भट्टारकसंज्ञकश्चाभूत् ॥ ६१ ॥
तत्पट्टमुच्चमुदयाद्रिमिवानुभानुः
श्रीभानुकीर्तिरिह भाति हतांधकारः ।
उद्द्योतयन्निखिलसूक्ष्मपदार्थसार्थान्
भट्टारको भुवनपालकपद्मबन्धुः ॥ ६२ ॥
तत्पट्टमब्धिमभिवर्द्धनहेतुरिन्दुः
सौम्यः सदोदयमयो लसदंशुजालैः ।
ब्रह्मव्रताचरणनिर्जितमारसेनो
भट्टारको विजयतेऽथ कुमारसेनः ॥ ६३ ॥
उग्राग्रोतकवंशजो वरमतिर्गोत्रे च गर्गोऽभवत्
काष्ठासंघमध्यानियां (?) च नगरे कोलेति नाम्ना वरात् ।
श्रीसाधुर्मदनाख्यया तदनुजो भ्राता स आसू सुधी-
स्तत्पुत्रो जिनधर्मशर्मनिरतः श्रीरूपचंद्राह्वयः ॥ ६४ ॥
तत्पुत्रः पुनरद्भुतोदयगुणग्रामैकचूडामणिः
श्रीपासांवरसाधुसाधुगदितः सर्वैः समं साधुभिः ।
रेखा यस्य विराजते धुरि तदारंभे महौजस्विनां
धर्मश्रीसुखदानमानयशसां जैनेऽथ धर्मे रतः ॥ ६५ ॥

१ अयं श्लोकः लाटीसंहितायामपि उपलभ्यते ।
२ 'अलीगढ़' इति प्रसिद्धः ।

तत्पुत्रोऽस्त्यत्र विख्यातः श्रीसाधुटोडरः सुधीः ।
महोदारो महाभागो महिम्ना कुलदीपकः ॥ ६६ ॥
श्लाघ्यः साधुसभामध्ये क्रियावान् धर्मतत्परः ।
देवशास्त्रगुरूणां च वत्सलो विनयान्वितः ॥ ६७ ॥
परेषां चोपकाराय शक्तिस्त्यागे च यस्य धीः ।
वित्तं च धर्मकार्येषु चित्तमर्हद्गुणादिषु ॥ ६८ ॥
रागी धर्मफले धर्मे कुधर्मे तद्विपर्ययः ।
विमुखः परदारासु सन्मुखो दानसंगरे ॥ ६९ ॥
सद्गुणांशेऽपि वा बालो मूको दोषशतेष्वपि ।
नात्मोत्कर्षविधौ वाग्मी स्वप्नेऽपि न दुराशयः ॥ ७० ॥
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वकार्यविधौ क्षमः ।
वित्तपुत्रादिसंपूर्णश्चैकोऽपि लक्षायते ॥ ७१ ॥
कृपालुः सर्वजीवेषु सर्वशास्त्रेषु बुद्धिमान् ।
दक्षः सर्वा१प्रधानेषु श्रावकेषु महत्तरः२ ॥ ७२ ॥
तस्य भार्या यथा नाम्ना कौसुम्भी शोभनानना ।
साध्वी पतिव्रता चेयं भर्तुश्छंदानुगामिनी ॥ ७३ ॥
तयोः पुत्रास्त्रयः संति प्राच्यां भानोरिवांशवः ।
उग्राश्चापि सदोषेषु निर्दोषिषूपकारिणः ॥ ७४ ॥
ऋषिदासश्चिरं जीयात्तत्र ज्यायान् गुणैरपि ।
स्वतश्चाप्युन्नते वंशे दिदीपे थिरु(स्थिर)तेजसा ॥ ७५ ॥
मोहनाख्यश्चिरायुः स्याद्द्वितीयोऽप्यद्वितीयकः ।
कणोऽप्यग्नेर्यथा दाह्यं भस्मसात्कुरुते रिपून् ॥ ७६ ॥

१ सर्वकार्येषु । २ श्रेष्ठः ।

वर्द्धतां मातुरंकस्थस्तृतीयो रूपमांगदः ।
शिशुरप्यंशुमालाभिर्महानेव मणिर्यथा ॥ ७७ ॥
एतेषां बन्धुवर्गाणां मध्ये श्रीसाधुटोडरः ।
व्यावर्णितोऽपि यः पूर्वं संबन्धः सूच्यतेऽधुना ॥ ७८ ॥
अथैकदा महापुर्यां मथुरायां कृतोद्यमः ।
यात्रायै सिद्धक्षेत्रस्थचैत्यानामगमत्सुखम् ॥ ७९ ॥
तस्याः पर्यन्तभूभागे दृष्ट्वा स्थानं मनोहरम् ।
महर्षिभिः समासीनं पूतं सिद्धास्पदोपमम् ॥ ८० ॥
तत्रापश्यत्स धर्मात्मा निःसहीस्थानमुत्तमम् ।[1]
अंत्यकेवलिनो जम्बूस्वामिनो मध्यमादिमम् ॥ ८१ ॥[2]
ततो विद्युच्चरो नाम्ना मुनिः स्यात्तदनुग्रहात् ।
अतस्तस्यैव पादान्ते स्थापितः पूर्वसूरिभिः ॥ ८२ ॥
ततः केऽपि महासत्त्वाः दुःखसंसारभीरवः ।
सन्निधानं तयोः प्राप्य पदसाम्यं समं दधुः ॥ ८३ ॥
उक्तं च—
"कालाइलद्धिणियडा जह जह संभवइ भव्वपुरिसस्स ।[3]
तह तह जायइ नूनं सुसव्वसामग्गिमोक्खट्टं ॥ ८४ ॥"
ततो धूतमहामोहा अखंडव्रतधारिणः ।
स्वायुरंते यथास्थानं जग्मुस्तेभ्यो नमो नमः ॥ ८५ ॥
ततः स्थानानि तेषां हि तयोः पार्श्वे सुयुक्तितः ।
स्थापितानि यथाम्नायं प्रमाणनयकोविदैः ॥ ८६ ॥

---

१ 'नशियाँ' इति । २ 'मध्यमादिकं' इति वा पाठः ।
३ काललब्धिनियता यथा यथा संभवति भव्यपुरुषस्य ।
तथा तथा जायते नूनं सुसर्वसामग्रीमोक्षार्थम् ॥

क्वचित्पंच क्वचिच्चाष्टौ क्वचिद्दश ततः परम् ।
क्वचिद्विंशतिरेव स्यात्स्तूपानां च यथायथम् ॥ ८७ ॥
तत्रापि चिरकालत्वे द्रव्याणां परिणामतः ।
स्तूपानां कृतकत्वाच्च जीर्णता स्यादबाधिता ॥ ८८ ॥
तां दृष्ट्वा स धर्मात्मा नव्यमुद्धर्तुमुत्सुकः ।
स्याद्यथा जीर्णपत्राणि वसंतःसमयो (वसंतसमये) नवम् ॥८९॥
मनो व्यापारयामास धर्मकार्ये स बुद्धिमान् ।
तावद्धर्मफलास्तिक्यं श्रद्दधानोऽवधानवान् ॥ ९० ॥
अस्त्यात्मानादिवद्धश्च तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ।
तत्रानंतसुखावाप्तिर्भवेत्क्लेशपरिक्षयात् ॥ ९१ ॥
स यावता भवेल्लाभो भूतपूर्वः सुदुष्करः ।
काललब्ध्यादिसामग्र्यां[2] सुसाध्योऽपि महात्मनाम् ॥ ९२ ॥
तावदावश्यमेवैतद्धर्मं कार्यं मनीषिभिः ।
सत्यां सम्यक्त्वसंप्राप्तौ भाविप्राप्तावयं क्रमः ॥ ९३ ॥
येषां सा तु भवेन्नात्र न भूता न भविष्यति ।
तेषां निंद्यात्मनां चात्र का कथा नित्यदुःखिनाम् ॥ ९४ ॥
तथापि धर्ममाहात्म्यात्क्रियामात्रानुरंजनात्[3] ।
आस्कंदंति महाभोगान् तेऽपि ग्रैवेयकं सुखम् ॥ ९५ ॥
स्वायुरंते ततश्च्युत्वा तिर्यगादिगतिष्वमी ।
वराकास्तीव्रदुःखार्त्ताः पर्यटन्ति यतस्ततः ॥ ९६ ॥
तन्नमोऽस्तु सुधर्माय यतः सौख्यं निरंतरम् ।
धिक्तत्पापापरं नाम मिथ्यात्वं कर्मशर्मभित् ॥ ९७ ॥

१ निकटवान् । २ कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके । इति इयमेका काललब्धिः । ३ अनुरागात् ।

यस्योदयाद्दया जंतोरदया स्यात्कथंचन ।
यदभावे दयाभावो घटते चिद्गुणेऽपि च ॥ ९८ ॥
तदलं व्याख्यया चास्य वाचा वक्तुमशक्यया ।
एकं मूलमनर्थानां यावतां (?) तत्परंपरा ॥ ९९ ॥
तन्मिथ्यात्वं परित्यज्यमादौ धर्ममभीप्सुभिः ।
सम्यक्त्वं प्रागुपादेयं मूलं धर्मतरोरिह ॥ १०० ॥
स धर्मः कथितो द्वेधा निश्चयाद्व्यवहारतः ।
तत्र स्वात्माश्रितश्चाद्यः स्याद्द्वितीयः पराश्रितः ॥ १०१ ॥
आत्मा चैतन्यमेकार्थस्तच्च वाचामगोचरः ।
स्वानुभूत्यैकगम्यत्वात्स धर्मः पारमार्थिकः ॥ १०२ ॥
स एवाँतार्द्धि शुद्धात्मा स एव परमं तपः ।
स एव दर्शनं ज्ञानं चारित्रं सुखमच्युतम् ॥ १०३ ॥
स एव संवरः प्रोक्तः निर्जरा चाष्टकर्मणाम् ॥
किमत्र विस्तरेणापि तत्फलं मुक्तिरात्मनः ॥ १०४ ॥
अथ तत्रासमर्थः सन् कश्चिन्मोहोदयावृतः ।
व्यावहारिकधर्मेषु स्यान्निरीहो[1]ऽपि वर्तते ॥ १०५ ॥
माऽकार्षीत्संशयं कश्चिदत्र हेतोर्विनिश्चयात् ।
पिपासुर्जलदूरस्थोऽप्याचक्षाणोऽस्ति तद्गुणात् ॥ १०६ ॥
तथा स्पृहालुः सद्दृष्टिः स्वात्मोत्पन्नसुखामृते ।
तत्सुखाप्तेषु संप्रीतिः परतत्त्वेषु जायते ॥ १०७ ॥
तत्र रागाद्विकल्पात्मा तद्गुणग्रामचिंतनात् ॥
व्यावहारिकधर्मे स्यादारूढो व्रतवाचिनि ॥ १०८ ॥

१ इच्छारहितः ।

कषायादिषु दुर्ध्याननंचनार्थं तदर्थवान् ।
अर्हत्पूजादिकं चेच्छेदाह्वानादिविधेः क्रमात् ॥ १०९ ॥
एकाक्ष्यादिषु पंचाख्यपर्यन्तेषु च जंतुषु ।
समता स्यात्स्वतस्तस्य यः स्वयं दुःखभीरुकः ॥ ११० ॥
हिंसादेर्विरतिः प्रोक्तं व्रतं तद्विविधं मतम् ।
देशतः सर्वतो धत्ते श्रावकोऽणु यतिर्महत् ॥ १११ ॥
तल्लक्षणं तु संक्षेपाद्वक्ष्यमाणं यथागमम् ।
नात्र विस्तरतः प्रोक्तं हेतोः संबन्धमात्रतः ॥ ११२ ॥
यत्फलं चास्य धर्मस्य महेन्द्रादिमहोदयः ।
सर्वं पलालवल्लभ्यं[1] धान्यार्थिनः कुटुंबिनः ॥ ११३ ॥
ज्ञातधर्मफलः सोऽयं[2] स्तूपान्यभिनवत्वतः ।
कारयामास पुण्यार्थं यशः केन निवार्यते ॥ ११४ ॥
यशःकृते धनं तेनुः[3] केचिद्धर्मकृतेऽर्थतः ।
तद्द्वयार्थमसौ दध्रे यथा स्वादु महौषधम् ॥ ११५ ॥
शीघ्रं शुभदिने लग्ने मंगलद्रव्यपूर्वकम् ।
सोत्साहः स समारंभं कृतवान् पुण्यवानिह ॥ ११६ ॥
ततोऽप्येकाग्रचित्तेन सावधानतयानिशम् ।
महोदारतया शश्वन्निन्ये पूर्णानि पुण्यभाक् ॥ ११७ ॥
शतानां पंच चापैकं शुद्धं चाधित्रयोदश ।
स्तूपानां तत्समीपे च द्वादश द्वारिकादिकम् ॥ ११८ ॥
संवत्सरे गताब्दानां शतानां षोडशं क्रमात् ।
शुद्धैस्त्रिंशद्भिरब्दैश्च साधिकं दधति स्फुटम् ॥ ११९ ॥

---

१ धान्यस्य तुषः । २ टोडरः । ३ विस्तारयामासुः ।

शुभे ज्येष्ठे महामासे शुक्ले पक्षे महोदये ।
द्वादश्यां बुधवारे स्याद् घटीनां च नवोपरि ॥ १२० ॥
परमाश्चर्यपदं पूतं स्थानं तीर्थसमप्रभम् ।
श्वभ्रं रुक्मगिरेः साक्षात्कूटं लक्षमिवोच्छ्रितम् ॥ १२१ ॥
पूजया च यथाशक्ति सूरिमंत्रैः प्रतिष्ठितम् ।
चतुर्विधमहासंघं समाहूयात्र धीमता ॥ १२२ ॥
ततोऽप्याशीर्वचः पूर्वं परमानंदशालिनाम् ।
गुरुणा स्वेन दत्तानि दधौ कुसुमानि मस्तके ॥ १२३ ॥
ततोऽधिवर्द्धयामास धर्मोत्साहः सुदर्शनात् ।
यथेन्दुदर्शनाद्वार्द्धिर्वर्धते पयसाधिकम् ॥ १२४ ॥
अथ मध्येसभं स्थित्वा कुड्मलीकृतकरद्वयम् ।
पृच्छति स्म स शुश्रूषुः सर्वमेतत्कथानकम् ॥ १२५ ॥
यूयं परोपकाराय बद्धकक्षा महाधियः ।
उत्तीर्णाश्च परं तीरं कृपावारिमहोदधेः ॥ १२६ ॥
ततोऽनुग्रहमाधाय बोधयध्वं तु मे मनः ।
जम्बूस्वामिपुराणस्य शुश्रूषा हृदि वर्तते ॥ १२७ ॥
कथं श्रेयोऽर्जितं तेन कथं प्राप्तं भवांतरम् ।
कथं केवलमुत्पाद्य सुलब्धं सुखमव्ययम् ॥ १२८ ॥
कथं विद्युच्चरो नाम्ना तन्निमित्तादभून्मुनिः ।
तेन सार्द्धं मुनीनां स्याच्छतं पंच जितेन्द्रियम् ॥ १२९ ॥
दैवं महोपसर्गं हि समाधाय सहिष्णवः ।
बभूवुस्ते महात्मानो न स्खलेयुः समाधितः ॥ १३० ॥

कथं चैतत्कथावृत्तं कथयध्वमाविस्तरात् ।
यथा बालैरपि प्रायो वाच्यं स्याल्लघुमृदूक्तितः ॥ १३१ ॥
इत्युक्त्वा युक्तितोऽभिज्ञः स्थितो वाचंयमीव सः ।
साधु साधुभिराम्नातं साधो सूक्तिमिदं त्वया ॥ १३२ ॥
ततः शीघ्रमुपज्ञज्ञो[1] मल्लः प्रोवाच मिष्टवाक् ।
मध्येसभं गुरूणां वा कृपया लालितो यतः ॥ १३३ ॥
सर्वेभ्योपि लघीयांश्च केवलं न क्रमादिह ।
वयसोऽपि लघुर्वृद्धो गुणैर्ज्ञानादिभिस्तथा ॥ १३४ ॥
गुरोरनुग्रहं ज्ञात्वा सर्वैरादेशितस्त्वयम् ।
अन्यथा तादृशो रंकः कथं वाचालतां दधौ ॥ १३५ ॥
मृगारिरिति नाम्ना स्यादुत्कर्षो न गजद्विषाम् ।
अत्र दोषावतारेऽपि महत्त्वं महतां कियत् ॥ १३६ ॥
किं तत्र प्रश्रयेणेह ये निसर्गाच्च सज्जनाः ।
धाराधरायते येषां कृपाम्बुशिशिरं वचः ॥ १३७ ॥
पवित्रीकुरुते विश्वं निर्वापयति[2] तत्तपः ।
पुण्यसस्यादिकं सूते तदास्तां हृदि मेऽनिशम् ॥ १३८ ॥
दुर्जनोऽप्यधमो वा तद्विक्रियायै स दुष्टधीः ।
यतोऽप्यनुद्धते नम्रे वक्रः सन्मानितोऽपि च ॥ १३९ ॥
भवेत्साधुरसाधुर्वा कृतं[3] चिंतनयानया ।
स्वेष्टं सुखावहं कार्यं सर्वः स्वार्थं समीहताम् ॥ १४० ॥
यदि संति गुणा वाण्यामत्रौदार्यादयाः क्रमात् ।
साधवः साधु मन्यन्ते का भीतिः शठविद्विषाम् ॥ १४१ ॥

१ शास्त्रज्ञः । २ शीतलं करोति । ३ अलम् ।

अथ साधूनसाधूंश्च प्रतिविज्ञापयाम्यहम् ।
अत्र भ्रान्तेः प्रमादाद्वा क्षमध्वं स्खलिते मयि ॥ १४२ ॥
मृदूक्त्या कथितं किंचिद्यन्मयाप्यल्पमेधसा ।
स्वानुभूत्यादि तत्सर्वं परीक्ष्योद्धर्तुमर्हथ ॥ १४३ ॥
इत्याराधितसाधूक्तिर्हृदि पंचगुरून् नयन् ।
जम्बूस्वामिकथाव्याजादात्मानं तु पुनाम्यहम् ॥ १४४ ॥
सोऽहमात्मा विशुद्धात्मा चिद्रूपो रूपवर्जितः ।
अतः परं य(च) का संज्ञा सा मदीया न सर्वतः ॥ १४५ ॥
यज्जानाति न तन्नाम यन्नामापि न बोधवत् ।
इति भेदात्तयोर्नाम कथं कर्तृ नियुज्यते ॥ १४६ ॥
अथासंख्यातदेशित्वाच्चैकोऽहं द्रव्यनिश्चयात् ।
नाम्ना पर्यायमात्रत्वादनंतत्वेऽपि किं वदे ॥ १४७ ॥
धन्यास्ते परमात्मतत्त्वममलं प्रत्यक्षमत्यक्षतः
साक्षात्स्वानुभवैकगम्यमहसां विंदंति ये साधवः ।
सांद्रं सज्जतया न मज्जनतया प्रक्षालितांतर्मला–
स्तत्रानंतसुखामृताम्बुसरसीहंसाश्च तेभ्यो नमः ॥ १४८ ॥

इतिश्रीजम्बूस्वामिचरिते भगवच्छ्रीपश्चिमतीर्थकरोपदेशानुसरित-
स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदपण्डितराजमल्लविरचिते
साधुपासात्मजसाधुटोडरसमभ्यर्थिते
कथाऽमुखवर्णनो नाम प्रथमः सर्गः ।

अथ द्वितीयः सर्गः

सम्यक्त्वरत्नं भवताद्भवाब्धौ पोतायमानं निपतज्जनानाम्
श्रीसाधुसाधोर्भुवि टोडरस्य पासात्मजस्याखिलशर्मणे वै ॥ १ ॥

इत्याशीर्वादः ।

श्रीनाभेयं जिनं वंदे वृषतीर्थप्रवर्तकम् ।
अजितं निर्जिताशेषकर्माणं च जगद्गुरुम् ॥ १ ॥

नोनांतरीपनिकरैः[1] परितः[2] परीतः[3]
स्वर्णाचलच्छलधृतातपवारणोऽसौ ।
गंगौघचामरसुवीजित एष जंबू–
द्वीपोऽधिराज इव राजति मध्यवर्ती ॥ २ ॥

तत्रार्द्धेंदुसमाकारं क्षेत्रं स्याद्भरताह्वयम् ।
उत्सर्प्पिण्यवसर्प्पिण्योर्घटीयंत्रमिवास्पदम् ॥ ३ ॥

गंगासिंधुनदीभ्यां च षट्खंडीकृतविग्रहम् ।
विजयार्द्धनगं[4] भित्वा गताभ्यां लवणांबुधौ ॥ ४ ॥

द्विरुक्ता सुषमाद्या स्याद्द्वितीया सुषमा मता ।
सुषमा दुःषमान्तान्या सुषमांता च दुःषमा ॥ ५ ॥

---

१ द्वीपान्तरीपनिकरैः परितः परीतः
स्वर्णाचलच्छलधृतातपवारणोऽसौ ।
गंगौघचामरविराजित एष जम्बू–
द्वीपोधिराज इव राजति मध्यवर्ती ॥ लाटीसंहितायां १–७ ।

२ सर्वत्र । ३ व्याप्तः । ४ पर्वतं ।

२

पंचमी दुःषमा ज्ञेया समा षष्ठ्यतिदुःषमा ।
भेदा इमेऽवसर्प्पिण्या उत्सर्प्पिण्या विपर्ययः ॥ ६ ॥
उत्सार्प्पिण्यवसर्प्पिण्यौ कालौ सांतर्भिदाविमौ ।
स्थित्युत्सर्प्पावसर्प्पाभ्यां लब्धान्वर्थाभिधानकौ ॥ ७ ॥
कालचक्रपरिभ्रांत्या षट्समाः परिवर्त्तनैः ।
तावुभौ परिवर्त्तेते तामिस्रेतरपक्षवत् ॥ ८ ॥
पुरा स्यामवसर्प्पिण्यां क्षेत्रेऽस्मिन् भरताह्वये ।
मध्यमं खंडमाश्रित्य प्रथते प्रथमा समा ॥ ९ ॥
सागरोपमकोटीनां कोटी स्याच्चतुराहता ।
तस्य कालस्य परिमा तदा स्थितिरियं मता ॥ १० ॥
देवोत्तरकुरुक्ष्मासु या स्थितिः समवस्थिता ।
सा स्थितिर्भारते वर्षे युगारंभे स्म जायते ॥ ११ ॥
तदा स्थितिर्मनुष्याणां त्रिपल्योपमसंमिता ।
षट्सहस्राणि चापानामुत्सेधो वपुषः स्मृतः ॥ १२ ॥
वज्रास्थिबंधनाः सौम्याः सुंदराकारचारवः ।
निष्टप्तकनकच्छाया दीव्यन्ते ते नरोत्तमाः ॥ १३ ॥
मुकुटं कुण्डलं हारो मेखला कटकांगदौ ।
केयूरं ब्रह्मसूत्रं च तेषां शश्वद्विभूषणम् ॥ १४ ॥
एते पुण्योदयोद्भूतरूपलावण्यसंपदः ।
ररम्यंते चिरं स्त्रीभिः सुरा इव सुरालये ॥ १५ ॥
महासत्त्वा महाधैर्या महोरस्का महौजसः ।
महानुभावास्ते सर्वे महीयंते महोदयाः ॥ १६ ॥

१ सार्थकाभिधानौ । २ वर्षाणि । ३ कृष्णशुक्लपक्षौ । ४ संज्ञा । ५ निरंतरं । ६ महास्कंधाः ।

तेषामाहारसंप्रीतिर्जायते दिवसैस्त्रिभिः ।
कवलीफलमात्रं च दिव्यान्नं विष्वणंति ते ॥ १७ ॥
निर्व्यायामा निरातंका निर्नीहारा निरामयाः ।
निःस्वेदास्ते निराबाधं जीवंति पुरुषायुषं ॥ १८ ॥
स्त्रियोऽपि तावदायुष्कास्तावदुत्सेधवृत्तयः ।
कल्पद्रुमेषु संसक्ताः कल्पवल्ल्य इवोज्वलाः ॥ १९ ॥
पुरुषेष्वनुरक्तास्तास्ते च तास्वनुरागिणः ।
यावज्जीवमसंश्लिष्टा भुंजंते भोगसंपदः ॥ २० ॥
स्वभावसुंदरं रूपं स्वभावमधुरं वचः ।
स्वभावचतुरा चेष्टा तेषां स्वर्गायुषामिव ॥ २१ ॥
रुच्याहारगृहातोद्यमाल्यभूषाम्बरादिकम् ।
भोगसाधनमेतेषां सर्वकल्पतरूद्भवम् ॥ २२ ॥
मंदगंधवहाधूतचलदंशुकपल्लवाः ।
नित्यालोका विराजंते कल्पोपपदपादपाः ॥ २३ ॥
कालानुभावसंभूतक्षेत्रसामर्थ्यबृंहिताः ।
कल्पद्रुमास्तदा तेषां कल्पंतेऽभीष्टसिद्धये ॥ २४ ॥
मनोभिरुचितान् भोगान् यस्मात्पुण्यकृतां नृणाम् ।
कल्पयंति ततस्तज्ज्ञैर्निरुक्ताः कल्पपादपाः ॥ २५ ॥
मद्यतूर्यविभूषास्रग्ज्योतिर्दीपगृहांगकाः ।
भोजनामत्रवस्त्रांगा दशधा कल्पशाखिनः ॥ २६ ॥

---

१ 'बेर' इति देशीभाषायां। २ भक्षयंति । ३ मलरहिताः । ४ विरहरहिताः । ५ देवानामिव । ६ वादित्रं । ७ लेपनं । ८ पवनः । ९ कल्पवृक्षाः । १० वर्द्धिताः ।

इति स्वनामनिर्दिष्टां कुर्वतोऽर्थक्रियाममी ।
संज्ञाभिरेव विस्पष्टास्ततो नातिप्रतन्यते ॥ २७ ॥
तथा भुक्त्वा चिरं भोगान् स्वपुण्यपरिपाकजान् ।
स्वायुरंते विलीयंते ते घना इव शारदाः ॥ २८ ॥
जृंभिकारंभमात्रेण तत्कालोत्थक्षुतेन वा ।
जीवितांते तनुं त्यक्त्वा ते दिवं यांत्यनेनसः ॥ २९ ॥
इत्याद्यकालभेदोऽवसर्पिण्या वर्णितो मनाक् ।
लसत्कुरुसमः शेषो विधिरत्रावधार्यताम् ॥ ३० ॥
ततो यथाक्रमं तस्मिन् काले गलति मंदताम् ।
यातासु वृक्षवृत्तायुःशरीरोत्सेधवृत्तिषु ॥ ३१ ॥
सुषमालक्षणः कालो द्वितीयः समवर्त्ततां ।
सागरोपमकोटीनां तिस्रः कोट्योऽस्य संमितिः ॥ ३२ ॥
तदास्य (तदास्मिन्) भारते वर्षे मध्यभोगभुवां स्थितिः ।
जायते स्म परां भूतिं तन्वाना कल्पपादपैः ॥ ३३ ॥
तदा मर्त्या हि मर्त्याभा द्विपल्योपमजीविनः ।
चतुःसहस्रचापोच्चविग्रहाः शुभचेष्टिताः ॥ ३४ ॥
कलाधरकलास्पर्धिदेहज्योत्स्नास्मितोज्वलाः ।
दिनद्वयेन तेऽश्नंति वार्क्षमन्धोक्षमात्रकम् ॥ ३५ ॥
शेषो विधिस्तु निःशेषो हरिवर्षसमो मतः ।
ततः क्रमेण कालेऽस्मिन्नवसर्प्पत्यनुक्रमात् ॥ ३६ ॥
प्रहीणाब्दाक्षवीर्यादिविशेषाः प्राक्तना यदा ।
जघन्यभोगभूमीनां मर्यादाविरँभूत्तदा ॥ ३७ ॥

---

१ छिक्कया । २ निष्पापाः । ३ चन्द्रः । ४ बिभीतकप्रमाणं । ५ प्रकटीजाता ।

यथावसरं संप्राप्तस्तृतीयः कालपर्य्ययः ।
प्रवर्तते सुराजेव स्वां मर्यादामलंघयन् ॥ ३८ ॥
सागरोपमकोटीनां कोट्यौ द्वौ लब्धसंस्थितौ ।
कालेऽस्मिन् भारते वर्षे मर्त्याः पल्योपमायुषः ॥ ३९ ॥
गव्यूतिप्रमितोच्छ्रायाः प्रियंगुश्यामविग्रहाः ।
दिनान्तरेण संप्राप्ता धात्रीफलमिताशनाः ॥ ४० ॥
ततस्तृतीयकालेऽस्मिन् व्यतिक्रामत्यनुक्रमात् ।
पल्योपमाष्टभागस्तु यदास्मिन् परिशिष्यते ॥ ४१ ॥
तदा कुलकरा नाम्ना प्रतिश्रुत्यादयः क्रमात् ।
चतुर्दश भवन्त्येव कर्म्मभूपूर्वभूपवत् ॥ ४२ ॥
तदा कर्मभुवां सर्वो व्यवहारः प्रवर्त्तते ।
प्रत्यग्रभूपतेराज्ञामनुलंघ्य प्रजा इव ॥ ४३ ॥
काले प्रांत्यस्य चार्यस्य मेघवृष्ट्यादयः क्रमात् ।
जायन्तेऽथ यथा नाभिराज्ञः कुलकरस्य वै ॥ ४४ ॥
तस्यैव काले जलदाः कालिकाकर्बुरत्विषः ।
प्रादुरासन्नभोभागे सांद्राः सेन्द्रशरासनाः ॥ ४५ ॥
नभोनीरन्ध्रमारुन्धञ्जजृम्भेऽम्भोमुचां चयः ।
कालादुद्भूतसामर्थ्यैरारब्धः सूक्ष्मपुद्गलैः ॥ ४६ ॥
विद्युद्वंतो महाध्वाना वर्षंतो रेजिरे घनाः ।
सहेमकक्षा मदिनो नागा इव सबृंहिताः ॥ ४७ ॥

१ आमलकी । २ प्रथमभूपतेः । ३ विद्युत् । ४ चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे इत्यमरः । ५ प्रकटीभवत् । ६ स्वर्णशृंखलान्वितः ।

घनाघनघनध्वानैः प्रहता गिरिभित्तयः ।
प्रत्याक्रोशमिवातेनुः प्रतुष्टाः प्रतिशब्दकैः ॥ ४८ ॥
ववौ च वाततान्कुर्वन् कलापौघान् कलापिनाम् ।
घनाघनालिमुक्तांभः कणवाही समीरणः ॥ ४९ ॥
चातका मधुरं रेणुरभिनंद्य घनागमम् ।
अकस्मात्तांडवारंभमातेने शिखिनां कुलम् ॥ ५० ॥
अभिषेक्तुमिवारब्धा गिरीनंभोमुचां चयाः ।
मुक्तधारं प्रवर्षंतः प्रक्षरद्वारिनिर्झरात् ॥ ५१ ॥
ध्वनंतो ववृषुर्मुक्तस्थूलधाराः पयोधराः ।
रुदंत इव शोकार्ताः कल्पवृक्षपरिक्षये ॥ ५२ ॥
विद्युन्नटी नभोरंगे विचित्राकारधारिणी ।
प्रतिक्षणविवृत्तांगी नृत्यारंभमिवातनोत् ॥ ५३ ॥
तडित्कलत्रसंसक्तैः कलापेक्षैर्महाजलैः ।
कृषिप्रवर्त्तकैर्मेघैर्व्यक्तं पामरकायितम् ॥ ५४ ॥
तदा जलधरोन्मुक्ताः मुक्ताफलरुचश्छटाः ।
महीं निर्वापयामासुर्दिवाकरकरोष्मतः ॥ ५५ ॥
गुणानाश्रित्य सामग्रीं प्राप्य द्रव्यादिलक्षणम् ।
संरूढात्यंकुरावस्थाप्रभृत्या कणिशाप्तितः ॥ ५६ ॥
शनैः शनैर्विवृद्धानि क्षेत्रेषु विरलं तदा ।
सस्यान्यकृष्टपच्यानि नानाभेदानि सर्वतः ॥ ५७ ॥
प्रजानां पूर्वसुकृतात्कालादपि च तादृशान् ।
सुपक्वानि यथाकालं फलदायीनि य(ज)ज्ञिरे ॥ ५८ ॥

१ मयूरपिच्छसमूहान् । २ प्राग्भरकायितं इति वा पाठः ।

नातिवृष्टिरवृष्टिर्वा तदासीत्किन्तु मध्यमा ।
वृष्टिस्तत्सर्वधान्यानां फलावाप्तिरविप्लुता[1] ॥ ५९ ॥
षष्टिका[2]कलमव्रीहियवगोधूमकङ्गवः ।
श्यामाककोद्रवोदारनीवारवरकास्तथा ॥ ६० ॥
तिलातस्यौ[3] मसूराश्च सर्षपो धान्यजीरकौ[4] ।
मुद्गमाषाढकीराजमाषनिष्पावकाश्चणाः ॥ ६१ ॥
कुलत्थत्रिपुटौ चेति धान्यभेदास्त्विमे मताः ।
सकुसुम्भाः सकार्पासाः प्रजाजीवनहेतवः ॥ ६२ ॥
उपभोगेषु धान्येषु सत्स्वप्येषु तदा प्रजाः ।
तदुपायमजानानाः स्वतो मूर्च्छुर्[5]मुहुर्मुहुः ॥ ६३ ॥
कल्पद्रुमेषु कार्त्स्न्येन प्रलीनेषु निराश्रयाः ।
युगस्य परिवर्त्तेऽस्मिन्नभूवन्नाकुलाकुलाः ॥ ६४ ॥
तीव्रायामशनायां[6] (या) यामुदीर्णाहारसंज्ञया ।
जीवनोपायसंशीतिव्याकुलीकृतचेतसः ॥ ६५ ॥
युगमुख्यमुपासीनाँ नाभिमनुमपश्चिमम् ।
ते तं विज्ञापयामासुरिति दीनगिरो नराः ॥ ६६ ॥
जीवामः कथमेवाद्य नाथानाथा विना द्रुमैः ।
कल्पदायिभिराकल्पमविस्मार्यैरपुण्यकैः ॥ ६७ ॥
इमे केचिदितो देव तरुभेदाः समुत्थिताः ।
शाखाभिः फलनम्राभिराह्वयन्तीव नोऽधुना ॥ ६८ ॥

---

१ नाशरहिता । २ 'साठी' । ३ 'अलसी' । ४ 'धनिया' । ५ विचारयामासुः । ६ बुभुक्षायाम् । ७ प्राप्ता ।

किमिमे परिहर्त्तव्याः किं वा भोग्यफला इमे ।
फलेग्रहीनिमेऽस्मान्वा निगृण्हन्त्यनुपान्ति वा ॥ ६९ ॥
अमीषामुपशल्येषु[1] केऽप्यमी तृणगुल्मकाः ।
फलनम्रशिखा भांति विश्वदिक्षु मितोऽमुतः ॥ ७० ॥
एतेषामुपयोगः स्याद्विनियोज्यः कथं नु वा ।
किमिमे स्वैरसंग्राह्या न वेतीदं वदाद्य नः ॥ ७१ ॥
त्वमेव सर्वमप्येतद्वेत्सि नाभेऽनभिज्ञकाः ।
पृच्छामो वयमद्यार्त्तास्ततो ब्रूहि प्रसीद नः ॥ ७२ ॥
इति कर्तव्यतामूढानतिभ्रांतांस्तदार्यकान् ।
नाभे (भि)र्न भेयमित्युक्त्वा व्याजहार पुनः सतान् । ७३ ।
इमे कल्पतरूच्छेदे द्रुमाः पक्वफलानताः ।
युष्मानद्यानुगृण्हंति पुरा कल्पद्रुमा यथा ॥ ७४ ॥
भद्रकास्तदिमे योग्याः कार्या न भ्रान्तिरत्र वः ।
अमी च परिहर्तव्या दूरतो विषवृक्षकाः ॥ ७५ ॥
इमाश्च काश्चनौषध्यः स्तंबकार्यादयो[2] मताः ।
एताः संभोज्यमन्नाद्यं व्यंजनाद्यैः सुसंस्कृतम् ॥ ७६ ॥
स्वभावमधुराश्चैते दीर्घाः पुंड्रेक्षुदण्डकाः ।
रसीकृत्य प्रपातव्या दन्तैर्यन्त्रैश्च पीडिताः ॥ ७७ ॥
गजकुम्भस्थले तेन मृदा निर्वर्त्तितानि च ।
पात्राणि विविधान्येषां स्थाल्यादीनि दयालुना ॥ ७८ ॥
इत्याद्युपायकथनैः प्रीत्या सत्कृत्य तं मनुम् ।
भेजे (जु) स्तद्दर्शितां वृत्तिं प्रजाः कालोचितां तदा ॥ ७९ ॥

१ समीपेषु । २ धान्यं व्रीहिः स्तम्बकरिः इत्यमरः ।

प्रजानां हितकृद्भूत्वा भोगभूमिस्थितिच्युतौ ।
नाभिराजस्ततोऽभूतो भेजे कल्पतरुस्थितिम् ॥ ८० ॥
तस्योद्वाहकल्याणं मरुदेव्या समं तदा ।
यथाविधि सुराश्चक्रुः पाकशासनशासनात् ॥ ८१ ॥
ततश्चापि महादेशानयोध्यांश्च पुरीं व्यधुः
ग्रामपत्तनसीमादि सर्वं चक्रुः सुरास्तदा ॥ ८२ ॥
ततःप्रभृति क्षेत्रेऽस्मिन् वर्त्तते कर्म्मभूरिति ।
अवस्थांतरमेव स्यात्कालचक्रपरिभ्रमात् ॥ ८३ ॥
सागरोपमकोटीनां कोटिः स्यात्तदवस्थितिः ।
तुर्यपंचमषष्ठाश्च भेदास्तत्राप्यमी क्रमात् ॥ ८४ ॥
तत्रोक्तसंख्यकस्तुर्यो कालः स्यात्किंचिदूनकः ।
द्वाचत्वारिंशदब्दानां सहस्राणि विनैव सः ॥ ८५ ॥
तत्रादौ तुर्यकालस्य वृषभस्तीर्थकृद्भवेत् ।
ततःप्रभृति मोक्षस्य मार्गश्च प्रकटोऽभवत् ॥ ८६ ॥
ततोत्सेधः शरीरस्य धनुः पंचशतं मतम् ।
उत्कर्षेण मनुष्याणां पंचविंशतिसाधिकम् ॥ ८७ ॥
आयुःप्रमाणमाम्नातं पूर्वाणां कोटिरुत्तमम् ।
मध्यमं च निकृष्टं च विज्ञेयं परमागमात् ॥ ८८ ॥
तत्र तीर्थकराः सर्वे चतुर्विंशतिसंख्यया ।
जायन्ते पंचकल्याणप्राप्तपूजर्द्धिवैभवाः ॥ ८९ ॥
तत्र केचिन्महात्मानः काललब्धिबलादिह ।
प्राप्तातीन्द्रियसौख्यास्ते निर्वातास्तान्नुमो वयम् ॥ ९० ॥

१ पाकं तन्नामासुरं शास्ति इति पाकशासनः इन्द्रः । २ वर्षाणां । ३ कथितं । ४ निर्वाणं गताः ।

केचित्सम्यक्त्वपूर्वाणि व्रतानि पाल्य महाधियः ।
सर्वार्थसिद्धिपर्यंतं भुंजंति सुखमंगिनः ॥ ९१ ॥
परे व्रतानि संप्राप्य सम्यक्त्वेन विना भुवि ।
कुदृशोऽपि क्रियायोगाद् ग्रैवेयकसुखं ययुः ॥ ९२ ॥
केचित्सम्यक्त्वरिक्ताश्च व्रतेनापि परिच्युताः ।
भद्रा दानरतिं प्राप्य भोगभूमौ प्रयांति हि ॥ ९३ ॥
परे पूर्वं हि बद्धायुः पश्चादुत्पन्नदर्शनाः ।
सत्पात्रदानतो नूनमवापुर्भोगभूसुखम् ॥ ९४ ॥
केचिद्भोगेषु संसक्ताः प्राणिवर्गेषु निर्दयाः ।
धर्मात्पराङ्मुखा दुष्टाः दुःखं श्वभ्रे पतंत्यमी ॥ ९५ ॥
हा दुस्त्याज्यं सुदुष्कर्म दुर्लंघ्यं प्राणिनां महत्
येन धर्मस्य सामग्री सर्वापि विफलीकृता ॥ ९६ ॥
इतीत्थं तुर्यकालोऽसौ पंथाः स्याद्बंधमोक्षयोः ।
तस्मान्निगद्यते सद्भिः कर्मभूरितिनामतः ॥ ९७ ॥
अपि चास्मिन् महाभागाश्चक्रिणो द्वादश स्मृताः ।
केशवास्तद्विषश्चैव बलाश्चापि नव स्मृताः ॥ ९८ ॥
त्रिषष्ठिलक्षणाश्चैते महापुरुषगोचराः ।
जायंते यत्र निर्विघ्नाः सोऽयं कालश्चतुर्थकः ॥ ९९ ॥
सर्वत्र मुनयः शश्वत्संति सद्व्रतधारिणः ।
देशव्रतधराः केचित्संति ते गृहमेधिनः ॥ १०० ॥

---

१ नरके । २ नारायणाः । ३ प्रतिनारायणाः ।

गृहस्थाश्च सदाचाराः पूजादानादितत्पराः ।
एकादिकं यथाशक्ति प्रतिमाख्यं व्रतं दधुः ॥ १०१ ॥
किंत्वैकादशसंज्ञात्मव्रतवानिह कश्चन ।
त्यक्तागारः सनिर्विण्णास्तिष्ठते मुनिवत्तथा ॥ १०२ ॥
आगोपालमथाबालं सर्वो जैनः प्रजाजनः ।
कदाचिदुद्भवो न स्याद्व्यक्तं पाखंडिनामिह ॥ १०३ ॥
किन्तु हुंडावसर्पिण्यां कालदोषादिह कचित् ।
प्रादुर्भवंति पाखंडास्तथापि च वृषक्षतिः ॥ १०४ ॥
गतायामवसर्प्पिण्यामुत्सर्प्पिण्यां तथैव च ।
असंख्यकोटिवारं स्यादेका हुंडावसर्प्पिणी ॥ १०५ ॥
अवश्यं भाविनी सेयं भूत्वा चापि गता पुरा ।
अनंतानंतशश्चापि वत्सरे मलमासवत् ॥ १०६ ॥
तदा भवत्यनर्थानां प्रादुर्भावो बलादिह ।
सीमानं कालचक्रस्य भेत्तुं शक्यो न कश्चन ॥ १०७ ॥
यथा स्वयं स्वभावाद्वै वर्षान्ते शरदिष्यते ।
तथा कालपरिभ्रांत्या द्रव्याणां च व्यवस्थितिः ॥ १०८ ॥
तद्यथा तत्र हुंडावसर्पिण्यां वा यथागमम् ।
तीर्थेशामुपसर्गो हि महानर्थो महात्मनाम् ॥ १०९ ॥
मानभंगश्च चक्रेशं जायते जातपूर्वकः ।
इत्यादि बहवोऽनर्थाः संति वाचामगोचराः ॥ ११० ॥
हिंसा प्राणिवधश्चेयं दुष्कर्मार्जनकारणम् ।
यागार्थं श्रेयसे हिंसा मन्यंते दुर्धियो द्विजाः ॥ १११ ॥

एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति कश्चनं[1] ।
संति वेदांतिनः केचिद्ब्रह्माद्वैतप्रवादिनः ॥ ११२ ॥

तन्मतं यथा—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात्
संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एक एव"[2] ॥१॥

सर्वथानित्यमेवैतत्तत्त्वं केचिज्जगुर्यथा ।
आकाशं च तथात्मादि सर्वमेकान्तवादिनः ॥ ११३ ॥
यत्सत्तत्क्षणिकं सर्वं यथा शब्दश्च वारिदः ।
इति बौद्धादयः केचित् क्षणिकैकान्तवादिनः ॥ ११४ ॥
पंचभूतात्मकं तत्त्वं जीवो नास्तीह कश्चन ।
ततो बंधो न मोक्षोऽस्ति जगुः कापालिका इति ॥ ११५ ॥
ज्ञानानां यदि धर्माणां संतानोच्छेदनात्मकः ।
मोक्षो वाच्यः स जीवस्य मन्यंते दुर्दृशः परे ॥ ११६ ॥
इत्यादि बहवो प्रोक्तास्तेषामंतर्भिदात्मकाः ।
ते च हुंडावसर्पिण्यां जायंते नान्यदा क्वचित् ॥ ११७ ॥
स्याद्वादगर्भिणी जीयाज्जैनी सिद्धान्तपद्धतिः ।
ययेव वज्रसारेण खंडिताः कुमताद्रयः ॥ ११८ ॥
निग्रहस्थानमेतेषां पुरस्ताद्वक्ष्यते कविः ।
मुख्यो विवक्षितो वाच्यस्तत्र दिग्मात्रतोऽपरः ॥ ११९ ॥

---

१ सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत् पश्यति कश्चन ॥
इति छान्दोग्य-उपनिषदि ३—१४ ।

२ शुक्लयजुर्वेदसंहितायां १७—१९ ।

अपि चैषां कुलिंगानि नानारूपाणि सर्वशः ।
त्रिशूलादिजटाभस्मैर्विकृतानि भवंत्यहो ॥ १२० ॥

एकदंडी द्विदंडी च त्रिदंडी चापि कश्चन ।
हंसः परमहंसोऽपि महारण्ये पशूपमाः ॥ १२१ ॥

इतिप्रभृति यावंति कुलिंगानि कुलिंगिनाम् ।
नाममात्रतया तानि क्षमो वक्तुं न कश्चन ॥ १२२ ॥

अलं वर्णनया चास्य यत्र पापाः समक्षतः ।
दृश्यंते यवना भूपाः साधवो व्याधिपीडिताः ॥ १२३ ॥

इदमत्र समाकूतं विज्ञेयं परमार्थिभिः ।
जैनो धर्मः क्षणं यावद्विस्मार्यो न महात्मभिः ॥ १२४ ॥

यथाध्मातोऽपि सौवर्ण्यं जात्यजांबूनदः स्वतः
न जहाति तथा साधुः क्षुद्रैः क्षुब्धोऽपि धर्मवत् (ताम्) ॥१२५॥

---

१ ते च द्विजा एव भगवन्नामधेयाश्चतुर्विधाभिधीयन्ते कुटीचर–बहूदक–हंस-परमहंसभेदात् । तत्र त्रिदण्डी सशिखो ब्रह्मसूत्री गृहत्यागी यजमानपरिग्रही सकृत्पुत्रगृहेऽश्नन् कुट्यां निवसन् कुटीचर उच्यते । कुटीचरतुल्यवेषो विप्रगेह-नैराश्यभिक्षाशनो विष्णुजापपरो नदीतीरस्नायी बहूदकः कथ्यते । ब्रह्मसूत्र-शिखाभ्यां रहितः काषायाम्बरदण्डधारी ग्रामे चैकरात्रं नगरे च त्रिरात्रं निवसन् विधूमेषु विगताग्निषु विप्रगेहेषु भिक्षां भुञ्जानस्तपःशोषितविग्रहो देशेषु भ्रमन् हंसः समुच्यते । हंस एवोत्पन्नज्ञानश्चातुर्वर्ण्यगेहभोजी स्वेच्छया दण्डधार ईशानीं दिशं गच्छन् शक्तिहीनतायामनशनग्राही वेदान्तैकध्यायी परमहंसः समाख्यायते । एषु चतुर्षु परः परोऽधिकः । एते च चत्वारोऽपि केवलब्रह्माद्वैतवादसाधनैकव्यसनिनः शब्दार्थयोर्निरासायानेकाः युक्तीः स्फोरयन्तोऽनिर्वाच्यतत्त्वे यथा व्यवतिष्ठन्ते तथा खण्डनतर्कादभियुक्तैरवसेयम् ।

गुणरत्नकृतायां हरिभद्रकृतषड्दर्शनसमुच्चयटीकायां पृ० ११५ ।

उक्तं च—

"एष लोक बहुभावभावितः स्वार्जितेन विविधेन कर्मणा ।
पश्यतस्तद्विकृतीर्जडात्मनः क्षोभमेति हृदयं न योगिनः" ॥१॥

इति व्यावर्णितः सोऽयं तुर्यः कालो महानिह ।
शेषो विधिस्तु सर्वोऽपि विज्ञेयः परमागमात् ॥ १२६ ॥
यदा चतुर्थकालस्य शेषमात्रोऽवतिष्ठते ।
तदा स्यात्तीर्थनाथस्य यथा वीरस्य निर्वृतिः ॥ १२७ ॥
तदा केवलबोधस्य प्रादुर्भूतिस्तथैव हि ।
यथात्र वर्द्धमानस्य पश्चान्मोक्षं गतास्त्रयः ॥ १२८ ॥
सधर्मा च सुधर्मा च जम्बूनामांत्यकेवली ।
यावद्द्वाषष्ठिः वर्षं स्याद्भगवन्निर्वृतः परम् ॥ १२९ ॥
ततो यथाक्रमं विष्णुर्नंदिमित्रोऽपराजितः ।
गोवर्द्धनो भद्रबाहुरित्याचार्या महाधियः ॥ १३० ॥
चतुर्दशमहाविद्यास्थानानां पारगा इमे ।
कालप्रमाणमेतेषां कात्स्र्येन शरदः[2]शतम् ॥ १३१ ॥
विशाखप्रौष्ठिलाचार्यो क्षत्रियो जयसाह्वयः ।
नागसेनश्च सिद्धार्थो धृतिषेणस्तथैव च ॥ १३२ ॥
विजयो बुद्धिमानंगदेवो धर्मादिशब्दतः ।
सेनश्च दशपूर्वाणां धारकाः स्युर्यथाक्रमम् ॥ १३३ ॥
अशीतं शतमब्दानामेतेषां कालसंग्रहः ।
तदाप्यात्मादितत्त्वानां पूर्णोपदेश एव हि ॥ १३४ ॥

---

१ श्वेताम्बरपरम्परायां जम्बूस्वामिनः पश्चात् प्रभवशय्यंभवयशोभद्रसम्भूत-विजयभद्रबाहु इति पंचश्रुतकेवलिन स्वीक्रियन्ते । २ शतवर्षम् ।

ततो नक्षत्रनामा च जयपाले (लो) महातपाः ।
पांडुश्च ध्रुवसेनश्च कंसाचार्य इति क्रमात् ॥ १३५ ॥
एकादशांगविद्यानां पारगाः स्युर्मुनीश्वराः ।
विंशद्विशतमब्दानामेतेषां कालसंग्रहः ॥ १३६ ॥
तदा तत्त्वोपदेशस्य भागांशैर्हानिरिष्यति ।
करस्थनीरवन्न्यायात्प्रोक्तं विश्वविशारदैः ॥ १३७ ॥
सुभद्रश्च यशोभद्रो भद्रबाहुर्महायशाः ।
लोहार्यश्चेत्यमी ज्ञेयाः प्रथमांगाब्धिपारगाः ॥ १३८ ॥
समानां शतमेषां स्यात्कालोऽष्टादशभिर्युतः ।
तदा तत्त्वोपदेशश्च भागांशेनावशिष्यते ॥ १३९ ॥
ततोऽपि हीयमानोऽसौ शेषमात्रोऽवतिष्ठते ।
दोषात्पंचमकालस्य हीयंते बुद्धयो नृणाम् ॥ १४० ॥
तत्र दुःषमकालेऽस्मिन् प्रमाणं जिनदेशितम् ।
शुद्धवर्षसहस्राणामेकविंशतिसंख्यया ॥ १४१ ॥
ततः श्रेण्योरभावः स्यान्मनःपर्ययबोधयोः ।
देशावधिं विना परमसर्वावधिबोधयोः ॥ १४२ ॥
ऋद्धीणां चापि सर्वासामभावस्तपसः क्षतेः[1] ।
नापि देवागमस्तत्र कल्याणानामभावतः ॥ १४३ ॥
कदाचित्कुत्रचित्केचित्क्षुद्रदेवाः कथंचन ।
आगच्छंति पुनस्तत्र सद्भिः प्रोक्तं जिनागमे ॥ १४४ ॥
तत्रोत्कृष्टं मनुष्याणामायुर्वर्षशतं मतम् ।
विंशत्यधिकमेवेदं धनुरेकं वपुः स्मृतम् ॥ १४५ ॥

---

१ नाशात् ।

क्रमादायुःशरीराणां हानिः स्याच्च प्रतिक्षणम् ।
धर्मस्यापि च कस्मिंश्चिद्देशे सत्वं च देशतः ॥ १४६ ॥
तत्राप्यस्ति निराबाधं सम्यक्त्वद्वयमादितः ।
क्षायिकं च भवेत्तत्र यत्र केवलिनो जिनाः ॥ १४७ ॥

उक्तं च—

"पढमं पढमे णियदं पढमं विदियं च सव्वकालेसु
खाइयसम्मत्तो पुण जत्थ जिणो केवली तम्हि" ॥ १ ॥

महाव्रतानि संत्यस्मिन् देशतोऽणुव्रतानि च ।
दुर्लभानीह केषांचिदागुणस्थानसप्तकम् ॥ १४८ ॥
किं चापि भद्रकाः केचिद्दयादानादितत्पराः ।
शीलोपवाससंपूर्णाः स्वर्गे गच्छंत्यनोरतम्[२] ॥ १४९ ॥
इत्यादीनि च कार्याणि विद्यंते यत्र चांगिनाम् ।
आप्तोपदेशतः सोऽयं कालो दुःषमसंज्ञकः ॥ १५० ॥
पर्यन्ते चास्य यत्किंचिद् वृत्तातं तन्निगद्यते ।
लेशतोऽप्यल्पबुद्धीनां बुद्धिसंमर्षणक्षमम् ॥ १५१ ॥
यायिनि दुःषमकालेऽस्मिन् शीघ्रमेष्यति चापरे ।
षष्ठे दुःषमदुःषाख्ये वक्ष्यमाणक्रमस्त्वयम् ॥ १५२ ॥
कुत्रचित्सर्वविद्दृष्टे देशे भूपोऽपि धर्महा ।
स्यात्कलंकीति विख्यातो हालाहलविषोपमः ॥ १५३ ॥

१ प्रथमं प्रथमे नियतं प्रथमं द्वितीयं च सर्वकालेषु ।
क्षायिकसम्यक्त्वः पुनः यत्र जिनः केवली तस्मिन् ॥
इयं गाथा लाटीसंहितायामपि उक्तं चेति रूपेण उद्धृता ।

२ निरंतरं ।

तस्य क्रियाः समस्तास्ताः प्रजापीडाकराः स्मृताः ।
तासामुद्देशमात्रेऽपि न क्षमो ज्ञोऽपि के वयम् ॥ १५४ ॥
तावता धातवः सर्वे विलीयंते लयं यथा ।
सांकचर्ममयः सर्वः स्यात्क्रयो विक्रयोऽथवा ॥ १५५ ॥
वधबंधेनमेनं च वचो जल्पति दुष्टधीः ।
मन्ये प्राणिविनाशाय केवलं कालनोदितः ॥ १५६ ॥
अथ तत्रापि वृषः साक्षादव्युच्छिन्नप्रवाहतः ।
यस्मादेको मुनिर्जैनो विद्यते भावलिंगवान् ॥ १५७ ॥
एका चाप्यार्यिका तत्र यथोक्तव्रतधारिका ।
सजानिः[1] श्रावकश्चैको जैनधर्मपरायणः ॥ १५८ ॥
अथान्येद्युः कलंकात्मा ध्यायत्येवं स पापधीः ।
न कोऽप्यत्र मदाज्ञायाः परो नास्ति कराहतः ॥ १५९ ॥
एवं श्रुत्वाधमाः केचिज्जगुर्निष्ठुरया गिरा ।
मुनिमुद्दिश्य देवोऽयं स्यादेकः करवर्जितः ॥ १६० ॥

उक्तं च—

"राज्ञि[2] धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः ।
लोकास्तदनुवर्तंते यथा राजा तथा प्रजाः।" ॥१६१॥
इत्याकर्ण्य स पापात्मा वाचः प्रोवाच निर्दयाम् ।
यथाकथंचिदयं दंड्यः स्यात्तथाद्य विधीयताम् ॥ १६२ ॥

---

१ भार्यासहितः । २ श्लोकोऽयं सोमदेवकृतयशस्तिलकचम्पूकाव्येऽपि उक्तं चेति रूपेण उद्धृतोऽस्ति ।

ततो भूपाज्ञया केचिच्चेलुः पश्चान्मुनेस्तदा ।
यदेर्यापथसंशुद्ध्या भिक्षार्थमटति स्म सः ॥ १६३ ॥
क्रमात्प्राप्तो विशुद्धात्मा तत्रोपासकसद्मनि ॥
स्वामिन्नमोऽस्तु तिष्ठात्र श्रावकेनापि सत्कृतः ॥ १६४ ॥
यथाम्नायं विधानज्ञो प्रसारितकरद्वयः ।
भोक्तुकामः स भोज्यस्य ग्रासं जग्राह शुद्धधीः ॥ १६५ ॥
यावद्भुंक्ते स तावद्वै वारितो भूपकिंकरैः ।
मा मा भुंक्ष्वेति दुःशब्दैर्वज्राघातायतैरिव ॥ १६६ ॥
अयं च प्रथमो ग्रासो भागधेयोचितस्त्वया ।
देयः प्रतिदिनं तावद्यावद्राज्ञोऽभिशंसनम् ॥ १६७ ॥
उक्तमात्रे दुराचारैर्मुनिरागमकोविदः ।
सर्वं विज्ञापयामास कालावस्थांतरादिकम् ॥ १६८ ॥
नूनमेतत्समापन्नं दुष्टकालावचेष्टितम् ।
अन्यथानर्थसंभूतिरियं पापक्रिया कथम् ॥ १६९ ॥
इति निश्चित्य शास्त्रज्ञो जीवनाशापरिच्युतः ।
त्यक्त्वा पाणिपुटाहारं सावधानो भवेन्मुनिः ॥ १७० ॥
यावज्जीवं चतुर्धापि मनोवाक्काययोगतः ।
त्यक्त्वा (क्त) माहारकं सर्वं मुनिना भवभीरुणा ॥ १७१ ॥
ततोऽप्यार्यिकया साक्षान्मुक्तं खाद्यादिकं स्वतः ।
सल्लेखनाविधौ चित्तं सावधानतया धृतम् ॥ १७२ ॥
सस्त्रीकः श्रावकश्चापि चक्रे सल्लेखनाविधिम् ।
मुनिवद्भवभोगेभ्यो विरक्तः स्वशरीरके ॥ १७३ ॥

चत्वारोऽपि महात्मानो लब्धसम्यक्त्वभूमिकाः ।
क्रमात्त्यक्तशरीरास्ते दिवि[1] यास्यंत्यसंशयम् ॥ १७४ ॥
तदात्वेऽनंतरं तत्र मूर्ध्नि राज्ञोऽपतत्पविः[2] ।
ततोऽप्यनंतरं नश्येद्द्विद्वि(?)शय्यागृहादिकम् ॥ १७५ ॥
दधिदुग्धघृताद्याश्च सर्वे गोरसपर्ययाः ।
क्षणादेव विलीयंते पापांशादिव संपदः ॥ १७६ ॥
ततो दुःषमदुःषमाख्यः षष्ठः कालः प्रवर्तते ।
विनष्टभोगसंपत्को दुष्टश्चान्वर्थसंज्ञकः ॥ १७७ ॥
तत्र षोडशवर्षाणां परमायुर्जिनोदितम् ।
हस्तैकं वपुरुत्सेधमुत्कर्षेण नृणां मतम् ॥ १७८ ॥
मध्यं तथा जघन्यं च विज्ञेयं परमागमात् ।
तद्वदायुःशरीरेषु तिरश्चामपि तत्त्रयम् ॥ १७९ ॥
यथा दुःखातुराः सर्वे तिर्यंचश्च तथा नराः ।
फलाद्याहारभोक्तारो भूरंध्रेषु[3] निवासिनः ॥ १८० ॥
नरा वल्कलवस्त्राढ्या मिथस्ते च विरोधिनः ।
तिर्यंचोऽपि महाक्रूरा युद्धं कुर्वन्त्यहर्निशम् ॥ १८१ ॥
हत्वा परस्परं पापाः फलं खादंति निर्दयाः ।
धर्मबुद्धेरभावाच्च दुष्टकालप्रभावतः ॥ १८२ ॥
मेघाः क्वचित्कदाचिच्च तत्र वर्षंति वर्षतः ।
तेषां नैसर्गिकी तृष्णा प्रशमं याति न क्वचित् ॥ १८३ ॥
इत्थं वर्षसहस्राणामेकविंशतिसंख्यकः ।
कालो गच्छति जंतूनां दुःखं दुष्कर्मपाकतः ॥ १८४ ॥

१ स्वर्गे । २ वज्रम् । ३ भूमिबिलेषु ।

तदंते प्रलयोऽवश्यं भावी कालस्वभावतः ।
वर्षंति सप्तसप्ताहं कारीषाग्न्यादयः क्रमात् ॥ १८५ ॥
इत्थमेकोनपंचाशद्दिनं यावदुपद्रवः ।
महादुःखाकरो भीमो रुद्रकर्मात्मको भवेत् ॥ १८६ ॥
द्वासप्ततिजीवानां दंपतीमिथुनं तदा ।
तत्राधिकारिभिर्देवैर्नीयंते गह्वरादिषु ॥ १८७ ॥
शेषमत्रार्यखंडेऽस्मिन् कृत्रिमं भस्मसाद्भवेत् ।
अकृत्रिमं तु केनापि कर्तुं शक्यं न वान्यथा ॥ १८८ ॥
ततश्चित्रावनिर्नित्या शेषमात्रावतिष्ठते ।
भूतपूर्वो लयः सोऽयमित्थमित्थमनंतशः ॥ १८९ ॥
एवं षट् समया यत्र वर्तंते पारिणामिकाः ।
अनुलोमैर्विलोमैश्च तत्क्षेत्रं भरताह्वयम् ॥ १९० ॥
तत्राधि(स्ति) मगधो देशो विख्यातो भुवि सारवत् ।
नित्यप्रमुदिता यत्र प्रजा भोगैः कृतोत्सवाः ॥ १९१ ॥
बलाकालीपताकाढ्या स्तनिता[1] यत्र बृंहिता ।
जीमूता[2] यत्र वर्षंतो भांति मत्ता इव द्विपाः ॥ १९२ ॥
न स्पृशंति कराबाधां यत्र राजन्वतीः प्रजाः ।
सदा सुकालसांनिध्यान्नेतयो नाप्यनीतयः ॥ १९३ ॥
यस्य सीमाविभागेषु शाल्यादिक्षेत्रसंपदः ।
सदैवफलशालिन्यो भांति धर्म्या इव क्रियाः ॥ १९४ ॥
यत्र शालिवनोपांते खात्पतंती शुकावली ।
शालिगोप्योऽनुमन्यंते[3] दधंती तोरणश्रियम् ॥ १९५ ॥

१ गर्जना । २ मेघाः । ३ गोपांगनाः ।

मंदगंधवहा धूताः शालिवप्राः फलानताः ।
कृतसंराविणो यत्र छोत्कुर्वंतीव पक्षिणः ॥ १९६ ॥
यत्र पुंड्रेक्षुवाटेषु यत्र चीत्कारहारिषु ।
पिबंति पथिकाः स्वैरं रसं सुरसमैक्षवम् ॥ १९७ ॥
यत्र कूपतटाकाद्याः कामं संति जलाशयाः ।
तथापि जनतातापं हरंति रसवत्तया ॥ १९८ ॥
जनतापच्छिदो यत्र वाप्यः स्वच्छांबुसंभृताः ।
भांति तीरतरुच्छाया निरुद्धोष्णा बहुप्रपाः ॥ १९९ ॥
विपंका ग्राहवंत्यश्च स्वच्छाः कुटिलवृत्तयः ।
अलंघ्याः सर्वभोग्याश्च विचित्रा यत्र निम्नगाः ॥ २०० ॥
सरसां तीरेषु देशेषु रुतं हंसा विकुर्वते ।
यत्र कंठबिलालग्नमृणालशकलाकुलाः ॥ २०१ ॥
वनेषु वनमातंगा मदामीलितलोचनाः ।
भ्रमंत्यविरतं यस्मिन्नाह्वातुमिव दिग्गजान् ॥ २०२ ॥
यत्र शृंगाग्रसंलग्नकर्दमा दुर्दमा भृशम् ।
उत्खनंति वृषा दृष्ट्वा स्थलेषु स्थलपद्मिनीम् ॥ २०३ ॥
स्वर्गावाससमाः पुर्यो निगमाः कुरुसंनिभाः ।
विमानस्पर्द्धिनो गेहाः प्रजा यत्र सुरोपमाः ॥ २०४ ॥
यत्र भंगस्तरंगेषु गजेषु मदविक्रिया ।
दंडपारुष्यमब्जेषु सरःसु जलसंग्रहः ॥ २०५ ॥
गवां गणा यथाकालमाप्तगर्भाः कृतस्वनाः ।
पोषयंति पयोभिः स्वैर्जनं यत्र घनैः समाः ॥ २०६ ॥

---

१ मच्छाः । २ शब्दं ।

निसर्गसुभगा नार्यो निसर्गचतुरा नराः ।
निसर्गललितालापा बाला यत्र गृहे गृहे ॥ २०७ ॥
यत्र सत्पात्रदानेषु प्रीतिः पूजासु चार्हताम् ।
शक्तिरात्यंतिकी शीले प्रोषधे च रतिर्नृणाम् ॥ २०८ ॥
देशस्यास्यैकदेशेऽस्मिन्नाम्ना राजगृहं पुरम् ।
यत्र राजन्यकं शश्वद्राजते दिविराडिव ॥ २०९ ॥
यत्राभ्रंलिहसौधाग्रकलशैः शातकुंभजैः[1] ।
सदा संभाव्यते पौरैः शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥ २१० ॥
जिनप्रासादशिखरं दंडोत्तंभितकेतनैः[2] ।
किं किलाकाशगंगायाः प्रवाहः शतधा भवेत् ॥ २११ ॥
गृहवातायनस्थानां नारीणां मुखमंडनैः ।
उद्दंडपुंडरीकानां सरसां श्रियमावहन् ॥ २१२ ॥
यत्सुंदरीणां सौंदर्यं दर्शं दर्शं सुरस्त्रियः ।
प्रत्यूहचकिता मन्ये तस्थुरुन्मेषितेक्षणाः ॥ २१३ ॥
यत्र तौर्यत्रिक[3]ध्वानैर्धूपधूमविवर्तनैः ।
सदैव दुर्दिनभ्रांत्या[4] केकां[5] तन्वंति केकिनः ॥ २१४ ॥
तत्र राजाधिराजोऽयं राजते श्रेणिकः सुधीः ।
निर्जिताशेषभूपालैराचुंबितपदद्वयः ॥ २१५ ॥
सर्वतोऽस्य सुलक्ष्माणि नालं वर्णयितुं कविः ।
तस्माद्दिग्मात्रमेवात्र लक्ष्ये सामुद्रिकं यथा ॥ २१६ ॥

१ तपनीयं शातकुंभं इत्यमरः । २ पताकाभिः । ३ तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यं नाट्यमिदं त्रयम् इत्यमरः । ४ मेघभ्रान्त्या । ५ केका वाणी मयूरस्य ।

शिरस्यस्य बभ्रुर्नीला मूर्द्धजाः कुंचितायताः ।
कामकृष्णभुजंगस्य शिशवो नु विजृंभिताः ॥ २१७ ॥
नेत्रभृंगे मुखाब्जे सस्मितांशूत्करकेसरे ।
धत्ते स्म मधुरां वाणीं मकरंदरसोपमाम् ॥ २१८ ॥
नेत्रयोर्द्वितयं रेजे संसक्तं तस्य कर्णयोः ।
सुश्रुती ताविवाश्रित्य शिक्षितुं सूक्ष्मदर्शिताम् ॥ २१९ ॥
उपकंठमसौ दध्रे हारं नीहारसच्छविम् ।
तारानिकरमास्येन्दोरिव सेवार्थमागतम् ॥ २२० ॥
वक्षःस्थलेन पृथुना सोऽधाच्चंदनचर्चिताम् ।
मेरोर्निजतटालग्नां शारदीमिव चंद्रिकाम् ॥ २२१ ॥
मुकुटोद्भासिनो मेरुमन्यस्य शिरसोन्तिके ।
बाहू तस्यायतौ नीलनिषधाविव रेजतुः ॥ २२२ ॥
सरिदावर्त्तगंभीरा नाभिमध्येऽस्य निर्बभौ ।
नारीहृक्करिणीरोधे वारिखातेव हृच्छुवा ॥ २२३ ॥
रसनावेष्टितं तस्य कटिमंडलमाबभौ ।
हेमवेदीपरिक्षिप्तमिव जम्बूद्रुमस्थलम् ॥ २२४ ॥
ऊरुद्वयमभास्त स्म स्थिरं वृत्तं सुसंहतम् ।
रामामनोगजालानस्तंभलीलां समुद्वहन् ॥ २२५ ॥
चरणद्वितयं सोऽधादारक्तं म्रदिमान्वितम् ।
श्रितं श्रियानपायिन्या संचारीव स्थलाम्बुजम् ॥ २२६ ॥

---

१ मकरंदः पुष्परसः इत्यमरः । २ मेरुतुल्यस्य । ३ कामेन । ४ मिलितं । ५ बन्धनाधारस्तंभः ।

रूपसंपदमुख्यैषा भूषिता श्रुतसंपदा ।
शरच्चन्द्रिकयेवेन्दोर्मूर्तिरानंदिनी दृशाम् ॥ २२७ ॥
पदवाक्यप्रमाणेषु परं प्रावीण्यमागता ।
तस्य धीः सर्वशास्त्रेषु दीपकेव व्यदीप्यत ॥ २२८ ॥
सकलः सकलो विद्वान् विनीतात्मा जितेन्द्रियः ।
राज्यलक्ष्मीकटाक्षाणां लक्ष्यतामगमत्कृती ॥ २२९ ॥
अनुरागं सरस्वत्यां कीर्त्यां प्रणयनिघ्नताम् ॥
लक्ष्म्यां चालभ्यमातन्वन्विदुषां मूर्ध्नि सोऽभवत् ॥ २३० ॥
यस्य ज्वलत्प्रतापाग्नौ सदर्प्परिपवः क्षणात् ।
भवेयुर्भस्मसात्सर्वे दववह्नौ तृणा इव ॥ २३१ ॥
यस्य पादद्वयं शश्वत्प्रणमंति महीश्वराः ।
यशोगंधैरिवाकृष्टो भ्रमरा इव कुशेशयम् ॥ २३२ ॥
सोऽयमज्ञानतः पूर्वं मुनेश्चाप्युपसर्गतः ।
तीव्रसंक्लेशभावैश्च बद्धायुर्नरकस्य च ॥ २३३ ॥
पश्चाद्भावैर्विशुद्धः सन् काललब्धिप्रसादतः ।
लब्धसद्दर्शनः सोऽयमासीत्कर्मांतकृत्सुधीः ॥ २३४ ॥
तद्यथावृत्तकं तस्य विज्ञेयं तत्कथानकात् ।
अत्र संक्षेपमात्रत्वान्नोक्तं विस्तरतो मया ॥ २३५ ॥
तस्य पत्नी तु नाम्नाऽऽसीच्चेलनेति पतिव्रता ।
व्रतशीलसुधर्माढ्या सम्यग्दर्शनशालिनी ॥ २३६ ॥
संत्यंतःपुरवासिन्यःप्रियाः शतसहस्रशः ।
कलत्रवंतमात्मानं तयैव मनुते स्म सः ॥ २३७ ॥

१ कुशे जले शेते इति कुशेशयं कमलम् ।

रूपयौवनलावण्यगुणवारितरंगिणी ।
साभूत्सरिदिवांभोधेर्भर्तुश्छन्दानुगामिनी ॥ २३८ ॥
अजस्रं तत्समीपं सा बिभर्ति स्म स्मरातुरा ।
तदासीत्कल्पवल्लीव संसक्ता रतकर्मणि ॥ २३९ ॥
अथान्येद्युर्महास्थानमासीनं हरिविष्टरे[1] ।
नमत्कोटिकिरीटाग्रैर्नृपैरासेवितं भृशम् ॥ २४० ॥
निर्झरन्नीरसंकाशचलच्चामरराजिभिः ।
वीज्यमानं सभामध्ये गिरीन्द्रमिव निश्चलम् ॥ २४१ ॥
इंदुबिम्बसमाकारसितछत्रोपलक्षितम् ।
श्रेणिकं तं महाराजं ददर्श वनपालकः ॥ २४२ ॥
तं दृष्ट्वाथ प्रणम्यादावुवाच विनयान्वितः ।
देवाश्चर्यपदं किंचिद् दृष्टं प्रत्यक्षतो मया ॥ २४३ ॥
तत्सर्वं लेशतोऽपीह वक्तुं शक्यो न कश्चन ।
तथाप्युल्लेखतोऽवश्यं वाच्यं वच्मि नराधिप ॥ २४४ ॥
श्रीवर्द्धमानतीर्थस्य महतास्त्रिजगद्गुरोः ।
समवसृतिसंस्थासीद्विपुलाचलमस्तके ॥ २४५ ॥
वर्णयामि किमत्राहं शोभातिशयशालिनी ।
यत्र संभूय नाकेशाः[2] किंकरा इव कर्मठाः ॥ २४६ ॥
तत्र प्रक्षुभितांभोधेर्वेलाध्वानानुकारिणी ।
घंटा मुखरयामास जगत्कल्पामरेशिनाम् ॥ २४७ ॥
ज्योतिर्लोके महान् सिंहप्रणादोऽभूत्समुत्थितः ।
येनाशु विमदीभावमवाप सुरवारणः ॥ २४८ ॥

---

१ सिंहासने । २ देवाः ।

दध्वान ध्वनदंभोदध्वनितानि तिरोदधन् ।
वैयंतरेषु गेहेषु महानानकनिःस्वनः ॥ २४९ ॥
संखः संखरवैः (?) सार्धं यूयमेव जिघृक्षवः ।
इतीव घोषयन्नुच्चैः फणीन्द्रभवने ध्वनन् ॥ २५० ॥
विष्टराण्यमरेशानामासनैः प्रचकंपिरे ।
अक्षमाणीव तद्गर्वं सोढुं जिनजयोत्सवे ॥ २५१ ॥
पुष्पांजलिमिवातेनुः समंतात्सुरभूरुहः[1] ।
चलच्छाखाकरैर्दीप्तैर्विगलत्कुसुमोत्करैः ॥ २५२ ॥
दिशः प्रसत्तिमासेदुर्व्यभ्राजे व्यभ्रमंबरम् ।
विरजीकृतभूलोकः शिशिरो मरुदाबभौ ॥ २५३ ॥
इति प्रमोदमातन्वन्नकस्माद्भुवनोदरे ।
केवलज्ञानपूर्णेन्दुर्जगदब्धिमवीवृधन् ॥ २५४ ॥
तमैरावणमारूढः[2] सहस्राक्षोऽद्भुतत्तराम् ।
पद्माकर इवोत्फुल्लपंकजो गिरिमस्तके ॥ २५५ ॥
द्वात्रिंशद्वदनान्यस्य प्रत्यास्यं च रदाष्टकम् ।
सरः प्रति रदं तस्मिन्नब्जिन्येका सरः प्रति ॥ २५६ ॥
द्वात्रिंशत्प्रसवास्तस्यास्तावत्प्रमितपत्रिकाः ।
तेष्वायतेषु देवानां नर्त्तक्यस्तत्समाः पृथक् ॥ २५७ ॥
नृत्यंति सलयस्मेरवक्त्राब्जा ललितभ्रुवः ।
पश्यच्चित्तद्रुमेषूच्चैर्नश्यंतः (?) प्रमदांकुरान् ॥ २५८ ॥
तासां सहासशृंगाररसभावलयान्वितम् ।
पश्यंतः कौमुदीप्रायं नृत्यं पिप्रीयिरे[3] सुराः ॥ २५९ ॥

१ कल्पवृक्षः । २ ऐरावतहस्तिनं । ३ संतोषं प्राप्ताः ।

प्रयाणे सुरराजस्य नेदुरप्सरसः पुरः।
रक्तकंठाश्च किंनर्यो जगुर्जिनपतेर्जयम् ॥ २६० ॥
ततो द्वात्रिंशदिंद्राणां पृतना[1] बहुकेतनाः।
प्रसस्रुर्विलसच्छत्रचामराः प्रततामराः ॥ २६१ ॥
अप्सरःकुंकुमारक्तकुचचक्राह्वयुग्मके।
तद्वक्त्रपंकजच्छन्ने लसंतनयनोत्पले ॥ २६२ ॥
नभःसरसि हारांशुस्वच्छवारिणि हारिणि।
चलंतश्चामरास्तत्र हंसायन्त स्म नाकिनाम् ॥ २६३ ॥
इंद्रनीलमयाहार्यरुचिभिः क्वचिदाततम्।
स्वामाभांति बिभरामास धौतासिनिभमंबरम् (?) ॥ २६४ ॥
पद्मरागरुचा व्याप्तं क्वचिद्व्योमतलं बभौ।
सांध्यरागमिवाबभ्रदनुरंजितदिङ्मुखम् ॥ २६५ ॥
क्वचिन्मरकतच्छायासमाक्रांतमभान्नभः।
सशैवलमिवांभोधेर्जलपर्यंतसंस्थितम् ॥ २६६ ॥
तन्व्यः[2] सुरुचिराकारा लसदंशुकभूषणाः।
तत्रामरस्त्रियो रेजुः कल्पवल्ल्य इवांबरे ॥ २६७ ॥
तासां स्मेराणि[3] वक्त्राणि पद्मबुद्ध्यानुधावताम्।
रेजे मधुलिहां माला धनुर्ज्येव मनोभुवः ॥ २६८ ॥
सुरानकमहाध्वानैः पूजावेलापरां दधन्।
प्रचलोल्लोलकल्लोलो बभौ देवागमांबुधिः ॥ २६९ ॥
तत्र दिव्यांगनारूपैर्हयै[4]हस्त्यादिवाहनैः।
उच्चावचैर्नभोवर्त्म भेजे चित्रपटश्रियम् ॥ २७० ॥

१ सेना। २ कृशाङ्ग्यः। ३ हास्ययुक्तानि। ४ हयः अश्वः।

सुरैर्दूरादथालोक्य विभोरास्थानमंडलम् ।
सुरशिल्पिभिरारब्धपरार्द्धिरवनाशतम् (?) ॥ २७१ ॥
एकयोजनविस्तारमभूदास्थानमीशितुः ।
हरिर्नीलमहारत्नघटितं विलसत्तलम् ॥ २७२ ॥
सुरेन्द्रनीलनिर्माणं समवृत्तं तदा बभौ ।
त्रिजगत्स्त्रीमुखालोकमंगलादर्शविभ्रमम् ॥ २७३ ॥
संस्थानमण्डलस्यास्य संस्थानं को नु वर्णयेत् ।
सुत्रामा सूत्रधारोऽभून्निर्माणे यस्य कर्मठः ॥ २७४ ॥
तथाप्यनूद्यते किंचिदस्य शोभासमुच्चयः ।
श्रुतेन येन संप्रीतिं भेजे भव्यात्मनां मनः ॥ २७५ ॥
पंचवर्णमयोद्भासिरत्नपांशुभिराचितः ।
तस्य पर्यंतभूभागे धूलीशालः परिष्कृतः ॥ २७६ ॥
चतसृष्वपि दिक्ष्वस्य हेमस्तंभाग्रलंबिताः ।
तोरणानां करस्पर्शिरत्नमाला विरेजिरे ॥ २७७ ॥
ततोऽन्तरांतरं किंचिद्गत्वा हाटकानिर्मिताः ।
रेजे मध्येषु वीथीनां मानस्तंभाः समुच्छ्रिताः ॥ २७८ ॥
अधिष्ठिता विरेजुस्ते मानस्तंभा मनोलिहः ।
ये दूराद्वीक्षिता मानं स्तंभयंत्याशु दुर्दृशाम् ॥ २७९ ॥
उक्तं च—

" मानस्तंभाः सरांसि प्रविमलजलमत्खातिका पुष्पवाटी ।
प्राकारो नाट्यशाला द्वितयमुपवनं वेदिकांतर्ध्वजाद्याः ।

---

१ समवशरणम् । २ इन्द्राः ।

शालः कल्पद्रुमाणां सुपरिवृतवनं स्तूपहर्म्यावली च ।
प्राकारः स्फाटिकोऽतर्नृसुरमुनिसभा पीठिकाग्रे स्वयंभूः" ॥२८०
तत्र त्रिमेखलस्यास्य मूर्ध्नि पीठस्य विस्तृतौ ।
स्फुरन्मणिविभाजालरचितामरकार्मुके ॥ २८१ ॥
चलच्चामरसंघातप्रतिबिंबनिभागतैः ।
हंसैरिवासरो बुद्ध्या सेव्यमाने तले पृथौ ॥ २८२ ॥
मार्तण्डमंडलच्छाया प्रस्पर्द्धिनि महार्द्धिके ।
स्वर्धुनीफेननीकाशैः स्फटिकैर्घटिते क्वचित् ॥ २८३ ॥
शुचौ स्निग्धे मृदुस्पर्शे जिनांघ्रिस्पर्शपावने ।
पर्यंतरचितानेकमंगलद्रव्यसंपदि ॥ २८४ ॥
त्रिमेखलांकिते पीठे सैषा गंधकुटी बभौ ।
यत्र त्रैलोक्यनाथस्य संस्था सर्वातिशायिनी ॥ २८५ ॥
यथा सर्वार्थसिद्धिर्वा स्थिता त्रिदिवमूर्धनि ।
तथा गंधकुटी दीप्ता पीठस्याधितलं बभौ ॥ २८६ ॥
सुगंधधूपनिःश्वासा सुमनोमालभारिणी ।
नानाभरणदीप्तांगी या वधूरिव दिद्युते ॥ २८७ ॥
तस्या मध्ये हैमं पीठं नानारत्नवृत्ताकीर्णम् ।
मेरोः शृंगं न्यंष्कुर्वाणं चक्रे शक्रोदेशाद्वित्तेट् ॥ २८८ ॥
विष्टरं तदलंचक्रे भगवानंततीर्थकृत् ।
चतुर्भिरंगुलैः स्वेन महिम्ना पृष्ठतत्तलम् ॥ २८९ ॥
तत्रासीनं तमिंद्राद्याः परिचेरुर्महेज्यया ।
पुष्पवृष्टिं प्रवर्षंतो नभोमार्गे घना इव ॥ २९० ॥

---

१ स्वर्गगंगा । २ तिरस्कुर्वाणं । ३ धनदः ।

तत्राशोकतरू रेजे पर्यंते[1] त्रिजगत्पतेः ।
रुंधन्मार्गं दिवेशानां[2] धुन्वन् शाखाः स वायुभिः २९१ ॥
छत्रं धवलं रुचिमत्कांत्या चांद्रीमजयद्रुचिरां लक्ष्मीम् ।
त्रेधा रुरुचे शशभृन्नूनं सेवां विदधज्जगतां पत्युः ॥ २९२ ॥
पयः पयोधेरिव वीचिमाला प्रकीर्णकानां समितिः समंतात् ।
जिनेन्द्रपर्यंतनिषेवियक्षः करोत्करैराविरभूद्विधूता ॥ २९३ ॥
जैनी किमंगद्युतिरुद्भवंती किमिंदुभासां ततिरापतंती ।
इति स्म शंकां तनुते पतंती सा चामराली शरदिंदुशुभ्रा ॥२९४॥
सुरदुंदुभयो मधुरध्वनयो निनदंति तदा स्म नभोविवरे ।
जलदागमशंकिभिरुन्मदिभिः शिखिभिः परवीक्षितपद्धतयः २९५
प्रभया परितो जिनदेहभुवा जगती सकला समवाविस्तृतेः (?) ।
रुरुचे स चराचरमर्त्यजनाः किमथाद्भुतमीदृशि धाम्नि विभोः २९६
दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिं निरगच्छत् ।
भव्यमनोगतमोहतमोऽघ्नन्नद्युतदेष यथैव तमोऽरिः ॥ २९७ ॥
इत्यष्टाभिः प्रतीहारैरन्विता भूर्जिनेशिनः ।
विपुलाद्रौ स्थिता देव देवदेवैरधिष्ठिता ॥ २९८ ॥
अपि तत्र विमुंचंति मिथो वैरं परस्परम् ।
जन्मसंतानसंस्काराबद्धक्रोधा विरोधिनः ॥ २९९ ॥
केचित्तत्कालपर्यायस्वभावत्वाद्विरोधिनः ।
नापि ते विक्रियां भेजुस्तत्सांनिध्यप्रभावतः ॥ ३०० ॥
तद्यथा करिणी दुग्धं दोग्धीव हरिशावकः ।
मातृबुद्ध्या तथा सिंहीमामनंति मृगार्भकाः[3] ॥ ३०१ ॥

---

१ समीपे । २ सूर्याणां । ३ मृगशावकाः ।

यत्र दर्दुरका नागफणायां च कृतासनाः ।
आश्रयंतीह छायायै पांथाः सान्द्रद्रुमेष्विव ॥ ३०२ ॥
द्रुमाः सर्वेऽपि सर्वर्त्तुफलदा दलशालिनः ।
आनंदादिव नृत्यंति चलच्छाखाकरायताः ॥ ३०३ ॥
व्रीहयः फलसंपन्नाः स्वादुपकाश्च सांप्रतम् ।
विद्यंते सर्वभूपृष्ठे सुकृतानामिवांकुराः ॥ ३०४ ॥
सर्वौषध्यो महावीर्याः सर्व्वामयविनाशकाः ।
दीप्यंतेऽतितरामद्य प्रजानां सुखहेतवे ॥ ३०५ ॥
दुर्भिक्षादीतयो नाशं यांति मूलादपि क्षणात् ।
पुण्यसूर्योदयादेव तमो नैशं यथा विभोः ॥ ३०६ ॥
इत्याद्यतिशयाः सर्वे संति युगपज्जिनेशिनः ।
तांस्तानुल्लेखतो वक्तुं नाहं शक्नोमि सांप्रति ॥ ३०७ ॥
इति श्रुत्वा वचो भूपो वनपालमुखादिह ।
आनंदामृतसंसिक्तदेहोऽभूद्भक्तिनिर्भरः ॥ ३०८ ॥
अथोत्थाय नृपस्तूर्णमासनात्संमुखं विभोः ।
गत्वा सप्तपदं यावत्रिधा चक्रे नमस्क्रियाम् ॥ ३०९ ॥
सानुजन्मासमेतोन्तःपुरपौरपुरोगमैः ।
प्राज्यामिज्यां पुरोधाय ससज्जोऽभूद्रमं प्रति ॥ ३१० ॥
गुरोर्भक्तिं परां तन्वन्कुर्वन्धर्मप्रभावनाम् ।
स भूत्या परयोत्तस्थे भगवद्वंदनाविधौ ॥ ३११ ॥
अथ सेनांबुधेः क्षोभमातन्वन्नब्धिनिःस्वनः ।
आनंदपटहो मंदं दध्वान ध्वनयन् दिशः ॥ ३१२ ॥

प्रतस्थेऽथ महाभागो वंदारुः श्रेणिको नृपः ।
महाहस्त्यश्वपादातिरथ्कट्या वृतोऽभितः ॥ ३१३ ॥
रेजे प्रचलिता सेना ततानकपृथुध्वनिः ।
वेलेव वारिधेः प्रेङ्खदसंख्यध्वजवीचिका: ॥ ३१४ ॥
तया परिवृतः प्रापत्स जिनास्थानमंडपम् ।
प्रसर्प्पत्प्रभया दिक्षु जितमार्तंडमण्डलम् ॥ ३१५ ॥
परीत्य पूजयन्मानस्तंभान्सौम्यैः ततः परम् ।
खातां लतां वनं शालं वनानां च चतुष्टयम् ॥ ३१६ ॥
द्वितीयशालमुत्क्रम्य ध्वजान् कल्पद्रुमावलीम् ।
स्तूपान् प्रासादमालाश्च पश्यन्विस्मयमाप सः ॥ ३१७ ॥
ततो द्वारिकैर्देवैः संभ्राम्यद्भिः प्रवेशितः ।
श्रीमंडपस्य वैदग्धीं सोऽपश्यत्स्वर्गजित्वरीम् ॥ ३१८ ॥
ततः प्रदक्षिणीकुर्वन् धर्मचक्रचतुष्टयम् ।
लक्ष्मीं वा पूजयामास प्राप्य प्रथमपीठिकाम् ॥ ३१९ ॥
ततो द्वितीयपीठस्थान् विभोरष्टौ महाध्वजान् ।
सोऽर्चयामास संप्रीतः पूतैर्गंधादिवस्तुभिः ॥ ३२० ॥
मध्ये गंधकुटी द्विर्द्विपारार्द्धे हरिविष्टरे ।
उदयाचलमूर्द्धस्थमित्रार्कं जिनमैक्षत ॥ ३२१ ॥
चलच्चामरसंघातवीज्यमानं महातनुम् ।
प्रपतान्निर्झरं मेरुमिव चामीकरच्छविम् ॥ ३२२ ॥
इत्याद्यष्टप्रतीहारैर्विभ्राजंतं जिनेश्वरम् ।
स त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य भगवंतं जगद्गुरुम् ॥ ३२३ ॥

१ रथानां समूहः इति रथकट्या । २ सूर्य । ३ शोभां ।

इयाय याययूकानां ज्यायान्प्राज्येष्टया प्रभुम् ।
पूजान्ते प्रणिपत्येशं महानिहितजान्वसौ ॥ ३२४ ॥
नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं महात्मने ।
वचःप्रसूनमालाभिरित्यानर्च गिरांपतिम् ॥ ३२५ ॥
त्वं जिनः कामजिज्जेता त्वमर्हन्नरिहारुहः ।
धर्मध्वजो धर्मपतिः कर्मारातिनिशुंभनः ॥ ३२६ ॥
तव हर्यासनं भाति विश्वभर्तुर्भवद्वरम् ।
कृतयत्नैरिवोद्वोढं न्यगूढोऽयं मृगाधिपैः ॥ ३२७ ॥
तवायं प्रचलच्छाखस्तुंगोऽशोकमहाध्रिपः ।
स्वच्छायासंश्रितान्पाति स्वतः शिष्यानिवाश्रितान् ॥ ३२८ ॥
तवामी चामरव्राता यक्षैरुत्क्षिप्य वीजिताः ।
निर्धुनंतीव निर्व्याजमागो वै सागसां नृणाम् ॥ ३२९ ॥
त्वामामनंति परितः सुमनोञ्जलयो दिवः ।
तुष्ट्या स्वर्गलक्ष्म्यैव मुक्ता हर्षाश्रुबिंदवः ॥ ३३० ॥
देवदुंदुभयश्चामी निनदंति नभःस्थिताः ।
घोषयंति जयोत्साहं निर्जिताखिलकर्मणः ॥ ३३१ ॥
ज्ञानदर्शनवीर्याणि विरतिः शुद्धदर्शनम् ।
दानादिलब्धयश्चेति क्षायिक्यस्तव शुद्धयः ॥ ३३२ ॥
छत्रत्रितयमाभाति सुवृत्तं जिन तावकम् ।
मुक्तालंबनविभ्राजि लक्ष्म्याः क्रीडास्थलायितम् ॥ ३३३ ॥
तव देहप्रभोत्सर्पैरिदमाक्रम्यते सदः ।
पुण्याभिषेकसंभारं लंबयद्भिरिवाभितः ॥ ३३४ ॥
तव वाक्प्रसरो दिव्यः पुनाति जगतां मनः ।
मोहांधतमसो धुन्वंस्त्वज्ज्ञानार्कांशकोपमः ॥ ३३५ ॥

१ पूजकानां । २ संसत् ।

ज्ञानमप्रतिघं विश्वं पर्यवेत्सीत्तवाक्रमात् ।
यथा ज्ञानं तथैवाभूत्क्षायिकं तव दर्शनम् ॥ ३३६ ॥
विश्वं प्रजानतोऽपीश यत्तेनास्तां श्रमक्लमौ ।
अनंतवीर्यताशक्तेस्तन्माहात्म्यं परिस्फुटम् ॥ ३३७ ॥
रागादिचित्तकालुष्यव्यपायादुदिता तव ।
विरतिः सुखमात्मोत्थं व्यनक्त्यात्यंतिकं विभो ॥ ३३८ ॥
प्रशांतकलुषं तोयं यथेह स्वच्छतां व्रजेत् ।
मिथ्यात्वकर्दमापायाद् दृक्शुद्धिस्ते यथार्थताम् ॥ ३३९ ॥
संत्योऽपि लब्धयः शेषास्त्वयि नार्थक्रियाकृतः ।
कृतकृत्ये बहिर्दिव्यसंबन्धो हि निरर्थकम् ॥ ३४० ॥
एवं प्राया गुणा नाथ भवतोऽनंतधा मताः ।
तानहं लेशतोऽपीश न स्तोतुमलमल्पधीः ॥ ३४१ ॥
भगवंतमभिष्टुत्य विष्टपातिगवैभवम् ।
भर्तुः श्रीमंडपारंभे स्वकोष्ठेऽवीविशन्नृपः ॥ ३४२ ॥
जम्बूद्वीपेऽत्र वर्षे समयमधिगते भारते तत्र देशे ।
नाम्ना विख्यातकीर्ताविह भुवि मगधेऽगाधसंपन्निधाने ।
तत्रापि श्रीगिरा राजगृह इति महाराजधानी पुरेऽस्मिन् ।
भूपः श्रीश्रेणिकोऽगाद्विपुलगिरिगिरौ वर्द्धमानस्य भूमौ ॥३४३॥

इति श्रीजम्बूस्वामिचरिते भगवच्छ्रीपश्चिमतीर्थकरोपदेशानु-
सरितस्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदपण्डितराजमल्ल-
साधुपासात्मजसाधुटोडरसमभ्यर्थिते श्रेणिक-
महाराजसमवसरणगमनवर्णनो
नाम द्वितीयोऽधिकारः ।

अथ तृतीयोऽध्यायः

जीयात्स टोडरः साधुः साधुपासांगजः कृती ।
दानबुद्धिस्तु यस्योच्चैः श्रेयांसेनोपमीयते ॥ इत्याशीर्वादः ॥

संभवं भवदुःखानां हर्तारं तीर्थनायकम् ।
अभिनंदनं च वंदामो वंदितं त्रिदशेश्वरैः ॥ १ ॥

ततो निभृतमासीने प्रबद्धकरकुड्मले ।
सदःपद्माकरे भर्तुः प्रबोधमभिलाषुके ॥ २ ॥

भक्त्या श्रेणिकभूपेन विनयानतमौलिना ।
विज्ञापनमकारीत्थं तत्त्वं जिज्ञासुना गुरोः ॥ ३ ॥

भगवन् बोद्धुमिच्छामि कीदृशस्तत्त्वविस्तरः ।
मार्गो मार्गफलं चापि कीदृक् तत्त्वं विदांवर ॥ ४ ॥

तत्प्रश्नावसितावित्थं भगवानंततीर्थकृत् ।
तत्त्वं प्रपंचयामास गंभीरतरया गिरा ॥ ५ ॥

प्रवक्तुरस्य वक्त्राब्जे विकृतिर्नैव काप्यभूत् ।
दर्पणे किमु भावानां विक्रियाऽस्ति प्रकाशने ॥ ६ ॥

ताल्वोष्ठमपरिस्पंदि सर्वांगेषु समुद्भवाः ।
अस्पृष्टकरणा वर्णा मुखादस्य विनिर्ययुः ॥ ७ ॥

स्फुरद्गिरिगुहोद्भूतप्रतिध्वनितसंनिभः ।
प्रस्पष्टार्थको निरगाद् ध्वनिः स्वायंभुवात् मुखात् ॥ ८ ॥

---

१ यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितौष्ठद्वयं
नो वाञ्छाकलितं न दोषमलिनं न श्वासरुद्धक्रमम् ।
शान्तामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभि-
स्तन्नः सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वचः ॥ इति संग्रहश्लोकः ।

विवक्षामंतरेणापि विविक्ताऽसीत् सरस्वती ।
महीयसामचिन्त्या हि योगजाः शक्तिसंपदः ॥ ९ ॥
शृणु श्रेणिक तत्त्वार्थान् वक्ष्यमाणाननुक्रमात् ।
जीवादीन् कालपर्यंतान् गौतमश्चाब्रवीत्तदा ॥ १० ॥
जीवाजीवावाश्रवबन्धौ किल संवरश्च निर्जरणम् ।
मोक्षस्तत्त्वं सम्यग्दर्शनसद्बोधविषयमखिलं स्यात् ॥ ११ ॥
आश्रवबन्धवपुरिदं पुण्यं पापं स्वभावतो न पृथक् ।
तस्मान्नो दिष्टं खलु तत्त्वदृशा सूरिणा सम्यक् ॥ १२ ॥
षोढा द्रव्योपदेशः स्याद् द्रव्यलक्षणयोगतः ।
द्रव्यत्वं नाम किंचेत्स्याद्गुणपर्ययवत्त्वतः ॥ १३ ॥
तल्लक्षणस्वभावत्वाज्जीवः स्याद् द्रव्यसंज्ञकः ।
पुद्गलश्चापि तद्योगाद् द्रव्यमित्यभिलप्यते ॥ १४ ॥
धर्माधर्माविहाकाशं कालश्चापि तथाविधः ।
चत्वारोऽपि च सत्त्वात्ते द्रव्यसञ्ज्ञात्मकाः पृथक् ॥ १५ ॥
आस्तिकायस्वभावत्वात्संति पंचास्तिकायिकाः ।
प्रदेशप्रचयाभावात्कालस्य नास्ति कायता ॥ १६ ॥
जीवादीनां पदार्थानां याथात्म्यं तत्त्वमिष्यते ।
सम्यग्ज्ञानं हि तज्ज्ञानं श्रद्धानं दर्शनं मतम् ॥ १७ ॥
कर्मादाननिदानानां भावानां च निरोधतः ।
चारित्रं तत्त्रयं विद्धि मुक्त्यंगं कर्मशातनात् ॥ १८ ॥

१ महापुरुषाणां ।
२ जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं रूपं आत्मनः तत् तु ।
दुरभिनिवेशविमुक्तं ज्ञानं सम्यक् खलु भवति सति यस्मिन् । द्रव्यसंग्रहे ४१ ।

सम्यग्दर्शनमादौ स्याद्वाच्यं ज्ञप्तिरतः परम् ।
यस्माच्छ्रद्धानशून्यस्य ज्ञानस्याज्ञानता मता ॥ १९ ॥

उक्तं च—

"जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु ।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं सम्मं खु होदि सदि जम्हि" ॥२०॥

द्वाभ्यां पूर्वं हि (पश्चाद्धि) चारित्रं मोक्तं चार्थक्रियाकरम् ।
क्रियमाणं तु तच्छून्यं स्यादचारित्रवद्यतः ॥ २१ ॥

तत्त्वज्ञानार्थमेतेषां वाच्यं लक्ष्म यथागमम् ।
अस्तित्वादिव सामान्याज्ज्ञानादित्वं विशेषतः ॥ २२ ॥

तद्यथा तत्र जीवोऽस्ति स चानाद्यावसानकः ।
नित्यः स्वतश्च सिद्धत्वात्तच्च कायाद्यभावतः ॥ २३ ॥

स चासंख्यातदेशी स्यादनंतगुणवानपि ।
स्यातां तस्य व्ययोत्पादौ कथंचिदितिपर्ययैः ॥ २४ ॥

चेतनालक्षणो जीवो विशेषाल्लक्षणादिह ।
ज्ञाता द्रष्टा च कर्ता च भोक्ता देहप्रमाणकः ॥ २५ ॥

गुणवान् कर्म निर्मुक्तावूर्द्ध्वव्रज्यास्वभावकः ।
परिणतोपसंहारविसर्पाभ्यां प्रदीपवत् ॥ २६ ॥

जीवः प्राणी च जंतुश्च क्षेत्रज्ञः पुरुषस्तथा ।
पुमानात्माऽन्तरात्मा च ज्ञो ज्ञानी तस्य पर्ययाः ॥ २७ ॥

---

१ सम्यक्त्वे सति ज्ञानं सम्यग्भवतीति यदुक्तं तस्य विवरणं क्रियते । तथाहि । गौतमाग्निभूतिवायुभूतिनामानो विप्राः पंचपंचशतब्राह्मणोपाध्याया वेदचतुष्टयं ज्योतिष्कव्याकरणषडङ्गानि मनुस्मृत्याद्यष्टादशस्मृतिशास्त्राणि यद्यपि जानन्ति तथापि तेषां हि ज्ञानं सम्यक्त्वं विना मिथ्याज्ञानमेव । ब्रह्मदेवकृतद्रव्यसंग्रहवृत्तौ ४२ ।

यतो जीवत्यजीवच्च जीविष्यति च जन्मसु ।
ततो जीवोऽयमाम्नातः सिद्धः स्याद्भूतपूर्वकः ॥ २८ ॥
भव्याभव्यौ तथा मुक्त इति जीवस्त्रिधोदितः ।
भविष्यत्सिद्धिको भव्यः सुवर्णोपलसंनिभः ॥ २९ ॥
अभव्यस्तु विपक्षः स्यादंधपाषाणसंनिभः ।
मुक्तिकारणसामग्री न तस्यास्ति कदाचन ॥ ३० ॥
कर्मबंधननिर्मुक्तस्त्रिलोकशिखरालयः ।
सिद्धो निरंजनः प्रोक्तः प्राप्तानंतसुखोदयः ॥ ३१ ॥
इति जीवपदार्थस्ते संक्षेपेण निरूपितः ।
अजीवतत्त्वमप्येवमवधानतया शृणु ॥ ३२ ॥
अजीवलक्षणं तत्त्वं पंचधैव प्रपंच्यते ।
धर्माधर्मौ च साकाशं कालः पुद्गल इत्यपि ॥ ३३ ॥
जीवपुद्गलयोऽर्थः स्याद्गत्युपग्रहकारणम् ।
धर्मद्रव्यं तदुद्दिष्टमधर्मः स्थित्युपग्रहः ॥ ३४ ॥
यथा मत्स्यस्य गमनं विना नैवांभसा भवेत् ।
न चांभः प्रेरयत्येनं तथा धर्मोऽस्त्यनुग्रहः ॥ ३५ ॥
तरुच्छाया यथा मर्त्यं स्थापयत्यर्थिनं स्वतः ।
न त्वेषा प्रेरयत्येनमथ च स्थितिकारणम् ॥ ३६ ॥

---

१ स्यादेतदनंतकालेनापि यो न सेत्स्यत्यसावभव्यतुल्यत्वादभव्य एव । अथ सेत्स्यति सर्वो भव्यस्तत उत्तरकालं भव्यशून्यं जगत् स्यादिति ? तन्न, किं कारणं ? भव्यराश्यंतर्भावात् । यथा योऽनंतेनापि कालेन कनकपाषाणो न कनको भविष्यति न तस्यांधपाषाणत्वं कनकपाषाणशक्तियोगात् । यथा वागामिकालो योऽनंतेनापि कालेन नागमिष्यति न तस्यागामित्वं हीयते । तथा भव्यस्यापि स्वशक्तियोगादसत्यामपि व्यक्तौ न भव्यत्वहानिः । त. राजवार्तिक २–७–९ । पृ. ७७ ।

तथैवाधर्मकायोऽपि जीवपुद्गलयोर्द्वयोः ।
निर्वर्त्तयत्युदासीनो न स्वयं प्रेरकः स्थितेः ॥ ३७ ॥
जीवादीनां पदार्थानामवगाहनलक्षणम् ।
यत्तदाकाशमस्पर्शममूर्तं व्यापि निष्क्रियम् ॥ ३८ ॥
वर्तनालक्षणः कालो वर्त्तना च पराश्रया ।
यथा स्वगुणपर्यायैः परिणंतृत्वयोजना ॥ ३९ ॥
यथा कुलालचक्रस्य भ्रमणेऽधः शिला स्वयम् ।
धत्ते निमित्ततामेवं कालोऽपि कलितो बुधैः ॥ ४० ॥
व्यवहारात्मकात्कालान्मुख्यकालविनिर्णयः ।
मुख्ये सत्येव गौणस्य वाहीकादेः प्रतीतितः ॥ ४१ ॥
स कालो लोकमात्रैः स्वैरणुभिर्निचितः स्थितेः ।
ज्ञेयोऽन्योन्यमसंकीर्णैं रत्नानामिव राशिभिः ॥ ४२ ॥
प्रदेशप्रचयायोगादकायोऽयं प्रकीर्तितः ।
शेषाः पंचास्तिकायाः स्युः प्रदेशोपचितात्मकाः ॥ ४३ ॥
धर्माधर्मवियत्कालपदार्था मूर्तिवर्जिताः ।
मूर्तिमत्पुद्गलद्रव्यं तस्य भेदानितः शृणु ॥ ४४ ॥

---

१ धर्माधर्मौ पुनर्गतिस्थितिक्रियाविशिष्टानां द्रव्याणामुपकारकावेव न पुनर्बलाद्गतिस्थितिनिर्वर्तकौ । यथा च सरित्तटाकह्रदसमुद्रेषु वेगवाहित्वे सति मत्स्यस्य स्वयमेव संजातजिगमिषस्योपग्राहकं जलं निमित्ततयोपकरोति, दण्डादिवत्कुंभकारे कर्तरि मृदः परिणामिन्याः, नभोवद्वा नभश्चरतां नभश्चराणामपेक्षाकारणं, न पुनरजलं गतेः कारणभावं बिभ्राणमगच्छन्तमपि मत्स्यबलात्प्रेर्य गमयति, क्षितिर्वा स्वयमेव तिष्ठतो द्रव्यस्य स्थानभूयमापनीपद्यते, न पुनरतिष्ठद्द्रव्यं बलादवनिस्स्थापयति । षड्दर्शनसमुच्चयटीका पृ. ६८ ।

२ प्रतिद्रव्यपर्यायमंतर्नीतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना ।

वर्णगंधरसस्पर्शयोगिनः पुद्गला मताः।
पूरणाद्गलनाच्चैव संप्राप्तान्वर्थनामकाः ॥ ४५ ॥
स्कंधाणुभेदतो द्वेधा पुद्गलस्य व्यवस्थितिः।
स्निग्धरूक्षात्मकाणूनां संघातः स्कंध इष्यते ॥ ४६ ॥
द्व्यणुकादिमहास्कंधपर्यंतं तस्य विस्तरः।
छायातपतमोज्योत्स्नापयोदादिप्रभेदभाक् ॥ ४७ ॥
सूक्ष्मसूक्ष्मास्तथा सूक्ष्माः सूक्ष्मस्थूलात्मकाः परे।
स्थूलसूक्ष्मकाः स्थूलाः स्थूलस्थूलाश्च पुद्गलाः ॥ ४८ ॥
सूक्ष्मसूक्ष्मोऽणुरेकः स्याददृश्यो दृश्य एव च।
सूक्ष्मास्ते कार्मणस्कंधाः प्रदेशानंतयोगतः ॥ ४९ ॥
शब्दः स्पर्शो रसो गंधः सूक्ष्मस्थूलो निगद्यते।
अचाक्षुषत्वे सत्येषामिन्द्रियग्राह्यतेक्षणात् ॥ ५० ॥
स्थूलसूक्ष्माः पुनर्ज्ञेयाश्छायाज्योत्स्नातपादयः।
चाक्षुषत्वेऽपि संहार्यरूपत्वादविघातकाः ॥ ५१ ॥
द्रवद्रव्यं जलादि स्यात्स्थूलभेदनिदर्शनम्।
स्थूलस्थूलः पृथिव्यादिर्भेद्यं स्कंधः प्रकीर्तितः ॥ ५२ ॥
आश्रवोऽपि द्विधा प्रोक्तो भावद्रव्यविभेदतः।
आद्यो जीवात्मको भावः स चाशुद्धः परत्वतः ॥ ५३ ॥

१ पृथ्वीरूपपुद्गलद्रव्यं बादरबादरं। छेत्तुं भेत्तुं अन्यत्र नेतुं शक्यं तद्बादरबादरमित्यर्थः। जलं बादरं। यच्छेत्तुं भेत्तुमशक्यं अन्यत्र नेतुं शक्यं तद्बादरमित्यर्थः। छाया बादरसूक्ष्मं। यच्छेत्तु भेत्तुमन्यत्र नेतुमशक्यं तद्बादरसूक्ष्ममित्यर्थः। यः चक्षुर्वर्जितचतुरिन्द्रियविषयो बाह्यार्थः तत्सूक्ष्मस्थूलं। कर्म सूक्ष्मं। यद्द्रव्यं देशावधिपरमात्राधिविषयं तत्सूक्ष्ममित्यर्थः। परमाणुः सूक्ष्मसूक्ष्मं। यत्सर्वावधिविषयं तत्सूक्ष्मसूक्ष्ममित्यर्थः।

मिथ्यात्वं च कषायाश्च योगोऽविरतिरेव च ।
भावाश्रवस्य विज्ञेया भेदाश्चामी यथागमात् ॥ ५४ ॥
सत्सु भावाश्रवेष्वाशु योग्याः कार्माणवर्गणाः ।
गच्छंति कर्मपर्यायैः स च द्रव्याश्रवः स्मृतः ॥ ५५ ॥
आश्रवपूर्वको बन्धो द्विविधः सोऽपि पूर्ववत् ।
आश्रितानां यतो बन्धः प्रकृत्यादिप्रभेदतः ॥ ५६ ॥
आश्रवस्य निरोधो यः स संवर उदाहृतः ।
तत्राद्यो भावशुद्धिः स्यात्परः कार्माणरोधतः ॥ ५७ ॥
निर्जरा च द्विधा प्रोक्ता सविपाकाविपाकतः ।
अत्र संवरपूर्वा या निर्जरा सोऽच्यते बुधैः ॥ ५८ ॥
भावद्रव्यात्मिका द्वेधा निर्जरा तत्त्ववेदिनाम् ।
तत्राद्या शुद्धभावः स्यात्कर्मनिर्जरणं परा ॥ ५९ ॥
पुंसोऽवस्थांतरं मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षये सति ।
ज्ञानानंदादिधर्माणामाविर्भावात्मकः स्वतः ॥ ६० ॥
शुभो भावो हि पुण्यस्य पापस्याशुभ एव च ।
पूर्वो व्रतादिरूपात्मा तद्विपक्षः परः स्मृतः ॥ ६१ ॥
वदत्येवं जिनेशाने तत्त्वानि श्रेणिकं प्रति ।
उत्तीर्णमंबरात्किंचित्साक्षात्तेजोमयं तदा ॥ ६२ ॥
बिम्बं रवेर्द्विधा भूत्वा किमागच्छच्च भूतले ।
द्रष्टुं लक्ष्मीं विरागस्य जिनस्यानतवैभवम् ॥ ६३ ॥

---

१ अशुद्धावस्थात्यागः शुद्धावस्थाग्रहणं ।

दृष्ट्वाकस्मान्नराधीशो धीमान् विस्मयतां गतः ।
पप्रच्छ स्वामिनं भूयः किमिदं दृश्यतेऽधुना ॥ ६४ ॥
पृष्टः प्रत्याह धर्मेशो राजानं श्रेणिकं प्रति ।
विद्युन्मालीति विख्यातो देवोऽयं स्यान्महर्द्धिकः ॥ ६५ ॥
चतसृभिर्नारीभिः स समं धर्मानुरागतः ।
भगवद्वंदना सोऽलं शीघ्रं तत्रागतस्तदा ॥ ६६ ॥
किंत्वितः सप्तमे चाह्नि दिवश्च्युत्वा भवांतकः ।
भुवमेष्यति भव्यात्मा चरमांगी[1] भविष्यति ॥ ६७ ॥
श्रुत्वेति तद्वचो भूपो भूयो भक्तिपरायणः ।
प्रीतो विज्ञापयामास भगवंतं जगद्गुरुम् ॥ ६८॥ ॥
कृपासागर भो स्वामिन् यत्त्वयोक्तं सुयुक्तितः ।
षण्मासमायुषः शेषो यदा स्यात्त्रिदिवौकसाम्[2] ॥ ६९ ॥
तदा मंदारमाला[3] स्यान्म्लाना कंठावलंबिनी ।
देहकांतिर्भवेत्तुच्छा मंदायंते सुरद्रुमाः ॥ ७० ॥
तेजोव्याप्तं दिशां वक्त्रमस्य कांतिमयं वपुः ।
दृश्यतेऽध्यक्षतोऽपीश तत्कथं चित्रकारणम् ॥ ७१ ॥
इत्यदः संशयध्वांतं निराकुर्वन् जिनोंऽशुमान् ।
उवाच विष्टरोविष्टो[4] गंभीरतरया गिरा ॥ ७२ ॥
राजन्नस्य कथावृत्तं सर्वं चित्रास्पदं[5] शृणु ॥
संवेगवर्द्धने हेतुर्निर्वेदजननक्षमम् ॥ ७३ ॥
तद्यथा मगधे देशे रम्येऽत्रैव प्रसिद्धके ।
धनधान्यहिरण्यादिपूर्णे प्रागेव वर्णिते ॥ ७४ ॥

---

१ चरमशरीरी तद्भवमोक्षगामीति । २ देवानां । ३ मंदारपुष्पैः गुम्फिता माला ।
४ सिंहासने उपविष्टः । ५ आश्चर्यकारकं ।

तत्रैकदेशांशव्याप्तं वर्द्धमानाभिधं पुरम् ।
वनोपवनराजीभिः राजितं परिखादिभिः ॥ ७५ ॥
चतुर्गोपुरसंयुक्तं विशालं शालवेष्टितम् ।
सुंदरीभिः समाकीर्णं दिव्यभूषांबरादिभिः ॥ ७६ ॥
तत्र विप्रा वसंत्येव वेदमार्गानुरागिणः ।
याज्ञिकाः श्रेयसे हिंसां कुर्वंतीह धमाधमाः ॥ ७७ ॥
हन्यंते पशवस्तत्र गोगजाजानरादयः ।
मिथ्यांधकारसंछन्नदृग्भिर्दुष्पथगामिभिः ॥ ७८ ॥
अथ तत्र वसेत्कश्चिद्विप्रो वेदविदांवरः ।
स्वधर्मकर्मनिष्णातो नाम्नार्यावसुरीरितः ॥ ७९ ॥
तस्य भार्या सती नाम्ना सोमशर्मा पतिव्रता ।
सीतेवैकपतिः साध्वी भर्तुश्छन्दानुगामिनी ॥ ८० ॥
तयोः पुत्रावभूतां द्वौ पुष्पदंताविवोन्नतौ[1] ।
नाम्नाद्यो भावदेवश्च द्वितीयो भवदेवकः ॥ ८१ ॥
क्रमादधीतिनौ शास्त्रवेदव्याकरणादिषु ।
निदानादिचिकित्सांते वैद्ये तर्के च छन्दसि ॥ ८२ ॥
ज्योतिःसंगीतगानेषु काव्यालंकरणेषु च ।
किमत्र बहुनोक्तेन विद्याब्धेः पारगाविव ॥ ८३ ॥
वावदूकौ[2] सुवादेषु ज्ञानविज्ञानकोविदौ ।
अपि चात्यंतस्नेहार्द्रौ मिथो पुण्यसुखाविव ॥ ८४ ॥
इत्थं सुखं सुवर्द्धन्तौ यावद्द्वौ निरुपद्रवम् ।
ज्येष्ठो द्वादशवर्षीयो लघुर्द्वादशवर्षकः ॥ ८५ ॥

---

१ चन्द्रसूर्यौ इव । २ वावदूकोऽतिवक्तरि इत्यमरः ।

अत्रांतरे पुरा दुष्टकर्मोपार्जितपाकतः ।
जातस्तातस्तयोः कुष्ठी महाव्याधिप्रपीडितः ॥ ८६ ॥
कुष्ठव्याप्तशरीरः स गलत्कर्णाक्षनासिकः ।
शीर्णोपांगश्च सर्वांगे यातनाव्याकुलीकृतः ॥ ८७ ॥
अज्ञानेनार्यते कर्म तद्विपाको हि दुस्तरः ।
स्वादु संभोज्यते पथ्यं तत्पाके दुःखवानिव ॥ ८८ ॥
मत्वेति धीमता त्याज्या विषया विषसंनिभाः ।
धर्मामृतं च पानीयं निर्विकारपदप्रदम् ॥ ८९ ॥
अत्यंतदुःखितो विप्रो जीवनाशापरिच्युतः ।
प्रविष्टो ज्वलिते वह्नौ चितानाम्नि पतंगवत् ॥ ९० ॥
तद्वियोगात्तु शोकार्ता सोमशर्मापि तत्प्रिया ।
वेगात्तत्र चितायां वै तेन सार्धमवीविशत् ॥ ९१ ॥
मृतयोर्मातृपित्रोश्च जातौ तौ दुःखभाजनौ ।
शोकसंतापसंतप्तौ संलपत्करुणारवौ ॥ ९२ ॥
ततो बन्धुभिरात्मीयैः साम्नैव प्रतिबोधितौ ।
तदा शोकं विमुच्याशु कृतवन्तौ पितुः क्रियाम् ॥ ९३ ॥
संतर्पणं यथाम्नायं सर्वं कृत्वा विमत्सरौ ।
पूर्ववत्सद्मकार्येषु सोद्यतौ भवतस्तदा ॥ ९४ ॥
इत्थं दिनगणैः कैश्चिद्गतेऽथ मुनिपुंगवः ।
आगतस्तत्र सौधर्मो नाम्ना धर्मवपुः शमी ॥ ९५ ॥
सर्वसंगविमुक्तात्मा बाह्याभ्यंतरभेदतः ।
यथाजातस्वरूपोऽपि सज्जो गुप्तश्च गुप्तिभिः ॥ ९६ ॥

१ पूर्वकर्मोदयेन । २ तीव्रवेदना । ३ पतन् सन् गच्छति इति पतंगः शलभः । ४ नम्रोऽपि ।

निःशंको जिनसूत्रार्थे सशंको व्रतपरिच्युतौ ।
दयालुः सर्वजीवेषु निर्दयः कर्मशातने[1] ॥ ९७ ॥
स्याद्वादी कुमतध्वान्ते तेजस्वी भानुमानिव ।
सौम्यः शशीव सर्वांगे धीरो मेरुरिवोन्नतः ॥ ९८ ॥
भवदावाग्नितप्तानां स्याज्जैनो जलदोपमः ।
धर्मोपदेशनीरेण पोषिता भव्यचातकाः ॥ ९९ ॥
सर्वसंघाष्टकोपेतोऽतंद्रितो विजितेन्द्रियः ।
ज्ञानाविज्ञानसंपन्नो गणी गुणनिधिः शमी ॥ १०० ॥
समः शत्रौ च मित्रे च जीविते मरणे समः ।
समो लाभे सुलाभे च समो मानापमानयोः ॥ १०१ ॥
रत्नत्रय[2]धरो धीरो तपसालंकृतविग्रहः ।
अजस्रं सावधानश्च संयमप्रतिपालने ॥ १०२ ॥
उपेक्षावानपि प्रायः करुणारसपूरितः ।
मुनिरुद्देशयामास जैनं धर्मं दयामयम् ॥ १०३ ॥
भो भो भव्यजना यूयं शृणुध्वं धर्ममुत्तमम् ।
स्वर्गापवर्गयोर्बीजं त्रैलोक्यशरणं शुभम् ॥ १०४ ॥
संसारेऽत्र सुखं न स्यादासर्वत्रिदिवौकसाम् ।
कर्माधीनतया दभ्रं तदुदयवशवर्तिनाम् । ॥ १०५ ॥
तथापि मोहमाहात्म्यात्प्रत्यस्तमितलोचनः ।
संसारी मनुते सौख्यं संसक्तो विषयेष्वधीः[3] ॥ १०६ ॥

---

१ विनाशने । २ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि इति रत्नत्रयं । ३ जडः ।

अनित्येषु शरीरेषु पुत्रपौत्रादिकेषु च ।
संपत्सद्मकलत्रेषु नित्यत्वं मनुते कुदृक् ॥ १०७ ॥
दुःखबीजेषु भोगेषु रमते स्वसुखाशया ।
तद्वियोगे च दुःखार्तः सीदत्येव पशुर्यथा ॥ १०८ ॥
क्षणं कामी क्षणं लोभी क्षणं तृष्णापरायणः ।
क्षणं भोगी क्षणं रोगी भूताविष्ट इवाचरेत् ॥ १०९ ॥
रागद्वेषमयीभूय भूयस्तत्र जडात्मकः ।
दुर्मोच्यं कर्म बध्नाति येन तद्दुर्गतिं व्रजेत् ॥ ११० ॥
कदाचिन्नारको भूत्वा तत्र दुष्कर्मपाकतः ।
असह्यैर्यातनादुःखैस्ताड्यते सागरावधिः ॥ १११ ॥
क्वापि तिर्यग्गतिं प्राप्य जन्मनीचैःकुलेऽथवा ।
दुःखानां च सहस्रैश्च पीडितोऽयं भ्रमत्यहो ॥ ११२ ॥
ततो नाभूत्स्थिरः क्वापि मध्येगातिचतुष्टयम् ।
विना सम्यग्दृग्बोधवृत्तैर्जंतुरनंतशः ॥ ११३ ॥
अतः सुखार्थिनानेन प्राणिना धर्मसंग्रहः ।
कर्तव्योऽवश्यमेवायमजस्रं जिनभाषितः ॥ ११४ ॥
इमां निरुपमां वाचं प्रशमांबुगर्भां मुनेः ।
श्रुत्वास्य भावदेवस्य कंपितं हृदयं तदा ॥ ११५ ॥
ततो निर्विण्णचित्तेन तेन संसारभीरुणा ।
विज्ञप्तो गुरुरेवासौ मुनिः सौधर्मसंज्ञकः ॥ ११६ ॥
स्वामिन् त्रायस्व मामद्य निमज्जंतं भवाम्बुधौ ।
यथाकथंचिदात्मीयं लभेयं सुखमव्ययम् ॥ ११७ ॥

१ मिथ्यादृष्टिः ।

ततो नाथ कृपां कृत्वा दीक्षां मे देहि निर्मलाम् ।
सर्वसंगपरित्यागलक्षणां भवनाशिनीम् ॥ ११८ ॥
श्रुत्वैतद्भावदेवस्य बाष्पांभोगर्भितं वचः ।
उवाच वाचं सौधर्मो मुनिस्तत्प्रीणनक्षमाम् ॥ ११९ ॥
निर्विण्णोऽसि यदा वत्स मत्वा भोगांश्च रोगवत् ।
तदा दीक्षां गृहाणाशु रागिभिर्दुर्द्धरामिमाम् ॥ १२० ॥
गुरूपदेशतो नूनं धैर्यमालम्ब्य शुद्धधीः ।
निःशल्यो भावदेवोऽसौ प्रवव्राज द्विजोत्तमः ॥ १२१ ॥
ततःप्रभृति योगीशः साक्षाद्वाचंयमी यथा ।
स्वसंयमाविरोधेन विजहर्ष महीतले ॥ १२२ ॥
गुणैर्गुरुणा गुरुणा सार्द्धं गच्छन्नकल्मषः ।
घोरमुग्रं तपः कुर्वन् स समः सुखदुःखयोः ॥ १२३ ॥
स्वाध्यायध्यानमैकाग्र्यं ध्यायन्निह निरंतरम् ।
शब्दब्रह्ममयं तत्त्वमभ्यसन् विनयानतः ॥ १२४ ॥
धन्योऽस्म्यहं कृतार्थोऽस्मि यन्मया प्राप्तमुत्तमम् ।
जैनं धर्ममिति प्राज्ञो मन्यमानः कृतार्थताम् ॥ १२५ ॥
अथान्येद्युः स सौधर्मः सूरिः संघसमन्वितः ।
विहरन्नागतो भूयो वर्द्धमानाभिधे पुरे ॥ १२६ ॥
भावदेवो मुनिस्तत्र स संस्मार विशुद्धधीः ।
वर्तते मेऽनुजो भ्राता पुरेऽस्मिन्निति चिंतयन् ॥ १२७ ॥
भवदेव इति ख्यातो विप्रः स्याद्विषयांधधीः ।
स्वात्महितमजानानो दुःश्रुतिग्रस्तचेतसः ॥ १२८ ॥

एकशो बोधयाम्येनं परमोपेक्षवानपि ।
स्वतो गत्वापि तद्गेहे विद्यते मे मनोरथः ॥ १२९ ॥
अर्हद्धर्मोपदेशैश्चेत् प्रतिबुद्धः कथंचन ।
विरक्तो भवभोगेभ्यो निश्चितं स भवेन्मुनिः ॥ १३० ॥
चिंतयित्वेति चित्ते स्वे भावदेवो मुनिस्तदा ।
अशिश्रियद्गुरोः पार्श्वमाज्ञामादातुकाम्यया ॥ १३१ ॥
दीयतां भगवन्नाज्ञा मह्यं भ्रातृविबोधने ।
बद्धकक्षाय कारुण्यात्त्वत्प्रसादैकभूमये ॥ १३२ ॥
एवं प्रसादयित्वा स्वगुरुं नत्वागमन्मुनिः ।
भवदेवगृहे रम्ये कृतेर्यापथशुद्धिभाक् ॥ १३३ ॥
अनंतरं ददर्शासौ भ्रातृगेहं सविस्मितः ।
मंडपाडंबराद्यं हि तोरणश्रीविराजितम् ॥ १३४ ॥
मंगलातोद्यनादैश्च बधिरीकृतदिक्चयम् ।
चित्रोल्लेखैःसमाकीर्णं मरुदां (तां) दोलितध्वजम् ॥ १३५ ॥
तारुण्यपूर्णनारीभिः कृतगानमहोत्सवम् ।
बंदिभिः स्तूयमानं च वेदवाक्यैरलंकृतम् ॥ १३६ ॥
जातीकुंदादिपुष्पैश्च वासितं गंधशालिभिः ।
सत्कर्पूरविमिश्रैश्च श्रीखंडैश्चर्चितं भृशम् ॥ १३७ ॥
मुनिनापि युतः सार्थं भावदेवः सुसंयतः ।
अविलंबतया प्राप्तस्तत्र भ्रातृगृहांगणे ॥ १३८ ॥
ततो हृष्टा समुत्थाय तूर्णमभ्युद्गमे विधिम् ।
प्रश्रयात्कारयामास भवदेवो नतानतः ॥ १३९ ॥

१ आ समन्तात् तुद्यते इति आतोद्यं चतुर्विधं वाद्यं । २ विनयात् ।

उच्चैःस्थाने निवेश्याशु नमस्कृत्य पुनः पुनः ।
शरण्ये शरणे तत्रोपविष्टो गुरुसंनिधौ ॥ १४० ॥
योगिना भ्रातृमन्येन धर्मवृद्ध्यादिदानतः ।
संभावितः पुनः प्राह भवदेव इतीरितः ॥ १४१ ॥
विद्यते कुशलं भ्रातः संयमे तपसां चये ।
एकाग्रचिंतने ध्याने ज्ञाने स्वात्मसमुद्भवे ॥ १४२ ॥
मुनिः प्राह महाप्राज्ञः साम्नैव भ्रातरं प्रति ।
समाधानपरा वत्स प्रष्टुकामा वयं त्विदम् ॥ १४३ ॥
किमेतास्मिन् गृहे भावि भूतं वा वर्ततेऽधुना ।
दृश्यते मंडपारंभो भ्रातस्त्वद्वसतौ यतः ॥ १४४ ॥
यत्तवालंकृतं सौम्यं वपुः परमसुन्दरम् ।
करे कंकणमेतत्ते दृश्यते चोत्सवावहम् ॥ १४५ ॥
आकर्ण्येदं गुरोर्वाक्यं भवदेवो नताननः ।
ईषत्स्मितं स्खलद्वाचमुवाच व्रीडया युतः ॥ १४६ ॥
स्वामिन्नत्र वसद्विप्रो नाम्ना दुर्मर्पणः स्मृतः ।
नागदेवी च भार्यास्य कुलशीलगुणांकिता ॥ १४७ ॥
तयोर्नागवसूपुत्री मयेहाद्य विवाहिता ।
आज्ञामादाय बंधूनां वेदवाक्यसमक्षकम् ॥ १४८ ॥
मुनिः प्राह ततः श्रुत्वा युक्तिसंगर्भितां गिरम् ।
भ्रातर्धर्माज्जगत्यस्मिन् दुर्लभं न किमप्यहो ॥ १४९ ॥
धर्मादैन्द्रं पदं नृणां सर्वसंपत्समन्वितम् ।
चक्रित्वं वार्द्धचक्रित्वं नृपत्वं च विशेषतः ॥ १५० ॥

---

१ शरणे साधुः शरण्यस्तस्मिन् । २ गृहे ।

सर्वप्राणिदयालक्ष्मो गृहस्थशमिनोर्द्विधा ।
रत्नत्रयमयो धर्मः स त्रिधा जिनदेशितः ॥ १५१ ॥
नरत्वं प्राप्य दुष्प्राप्यं यो न धर्मं समाचरेत् ।
नूनं मन्ये वृथा तस्य जन्म प्राप्तमपि स्फुटम् ॥ १५२ ॥
पीत्वा वाक्यामृतं पूतं प्राप्तं मुनिमहोदधेः ।
भवदेवो व्रतान्युच्चैः श्रावकस्यागृहीत्तदा ॥ १५३ ॥
संग्रहीतव्रतेनाशु विज्ञप्तो मुनिनायकः ।
स्वामिन्नत्र गृहे मेऽद्य त्वया भोज्यं कृपापर ॥ १५४ ॥
विज्ञप्तेरनुजस्यैव भ्रातृधर्मानुरागतः ।
मुनिः स शुद्धमाहारं निःसावद्यं जघास सः ॥ १५५ ॥
ततश्चेर्यापथं पश्यंश्चचाल मुनिपुंगवः ।
तिष्ठते यत्र सौधर्मो यतिवृंदसमन्वितः ॥ १५६ ॥
ततः पौरजनाः केचिद्विनाप्यनुमतिं मुनेः ।
चेलुस्तमनुगच्छंतं प्रश्रयस्य कृतेऽर्थतः ॥ १५७ ॥
तत्सार्थत्वमिवादाय कियद्दूरं यथायथम् ।
गत्वा पुनर्नमस्कृत्य व्यावृत्य गृहमाययुः ॥ १५८ ॥
भवदेवोऽनुजो भ्राता तेन सार्धमजीगमत् ।
गृहे गच्छ गुरोराज्ञां प्रतीच्छन्निति गौरवात् ॥ १५९ ॥
मुनिनाभाणि न तद्वाक्यमहिंसाव्रतघातकम् ।
धर्मध्वंसभिया शश्वद्रक्षता संयमादिकान् ॥ १६० ॥
एवमेव गतो दूरे दूराद्दूरतरेऽपि च ।
मुमुक्षुः कंकणग्रंथी व्याकुलीभूतचेतसः ॥ १६१ ॥

स्मारं स्मारं पुनश्चित्ते नागवस्रूमुखांबुजम् ।
मूर्च्छन्निव पदं धत्ते प्रस्खलद्गतिविभ्रमम् ॥ १६२ ॥
किंचित्सोपायमालोच्य व्याजादूचे मुहुर्मुहुः ।
गृहं जिगमिषया भावदेवं प्रति सहोदरः ॥ १६३ ॥
स्वामिन् स्मरस्ययं वृक्षो गव्यूति[1]प्रमितः पुरः ।
क्रीडार्थं त्वमहं चास्तां प्रत्यहं यत्र सार्थतः ॥ १६४ ॥
इतः पश्य तडागं भो पंकजाली[2]विराजितम् ।
श्रोतुं रुतं मरालस्य यत्रावां तस्थतुः पुरा ॥ १६५ ॥
कृत्रिमं काननं पश्य नानानोकह[3]संहतम् ।
पुष्पावचयायावां च यत्राजग्मतुरादरात् ॥ १६६ ॥
सेयं स्थली कृपानाथ चन्द्ररश्मिपरिवोज्ज्वला !
यत्र कंदुकखेलार्थं तस्थुः सर्वेऽस्मदादयः ॥ १६७ ॥
इत्यादिविविधालापैरात्माकूतं[4] वदन्नपि ।
भवदेवो न शशाकोच्चैर्मोहितुं तन्मनो मनाक् ॥ १६८ ॥
नापि पश्यति नेत्राभ्यां नो किंचिच्चिंतयेन्मुनिः ।
वचसापि न हुंकारं वदेद्वा बाहुसंज्ञया ॥ १६९ ॥
क्रमादेवं सुगच्छन्तौ प्रापतुर्गुरुसंनिधौ ।
धुरं धर्मरथस्यैतौ वोढारौ[5] वृषभाविव ॥ १७० ॥
ततस्तं मुनिमुद्दिश्य शंसुः सर्वेऽपि संयताः ।
धन्योऽसि त्वं महाभाग येनानीतोऽनुजः क्षणात् ॥ १७१ ॥
ततो भक्त्या प्रणम्याशु गुरुं सौधर्मसंज्ञकम् ।
उपविष्टो यथास्थाने भावदेवो मुनिस्तदा ॥ १७२ ॥

१ क्रोशयुगं । २ कमलपंक्तिभिः । ३ अनोकहः वृक्षः । ४ अभिप्रायं । ५ वाहकौ ।

इतिकर्तव्यतामूढः पर्याकुलितचेतसः ।
चिंतयामास चित्ते स्वे भवदेवो नवोद्वहः[1] ॥ १७३ ॥
निवृत्त्याथ गृहं यामि किं वा गृह्णामि संयमम् ।
इति संशयदोलायां क्षणं नास्थायि तन्मनः ॥ १७४ ॥
उद्वाहस्यावशिष्टं यत्कार्यं कृत्वानया समम् ।
कांतया दुर्लभान् भोगान् भुंजामीति यथेप्सितान् ॥ १७५ ॥
इदमाकूतं तु मे चित्ते वर्तते स्वमनीषितम् ।
कस्याग्रे कथयाम्यत्र व्रीड़याहतमानसः ॥ १७६ ॥
केदं पदं मुनीशानां दुर्द्धरं महतामपि ।
अस्मादृशा वराकाः क दष्टाः कामभुजंगकैः ॥ १७७ ॥
अथ चेन्न करोम्यत्र गुरुवाक्यमसूक्षणात्[2] ।
अयं ज्येष्ठो मम भ्राता माभूल्लज्जापरायणः ॥ १७८ ॥
विमृश्योभयपक्षेऽपि कृत्याकृत्यविशेषतः ।
सशल्यः कृतधैर्योऽसौ दीक्षामादातुमुद्यतः ॥ १७९ ॥
चिंतितं तेन चित्ते स्वे सशल्येन विमृश्यता ।
गमिष्यामि पुनर्गेहं यथाकालमतः परम् ॥ १८० ॥
विमृश्यैतत्सच्छद्मः स भवदेवो नताननः ।
अवादीन्मुनिमुद्दिश्य यथा धूर्तविचेष्टितम् ॥ १८१ ॥
मुने परोपकाराय बद्धकक्ष महातप ।
मयि दीने कृपां कृत्वा देहि दीक्षां त्वमार्हतीम् ॥ १८२ ॥
विज्ञातो मुनिना तूर्णं सावधिज्ञानचक्षुषा ।
गोपयन्नपि दुर्लक्ष्यं स्वाभिप्रायं द्विजोत्तमः ॥ १८३ ॥

१ नवविवाहितः । २ अनादरात् ।

दीक्षामादातुकामोऽपि विद्यते साभिलाषवान् ।
विरागो भवितेत्यस्मै दीक्षां ददौ महामुनिः ॥ १८४ ॥
अथादायापि नैर्ग्रंथीं दीक्षां सर्वसमक्षतः ।
दग्धः स्मरानलेनेति हृदि शल्यमधारयत् ॥ १८५ ॥
मुग्धां संपूर्णतारुण्यां पूर्णचंद्रनिभाननाम् ।
द्रक्ष्याम्यहं कदा दीनां मृगाक्षीं तां ससस्मराम् ॥ १८६ ॥
घनस्तनभरानम्रां कोमलां पल्लवाधराम् ।
मामृते विरहव्याप्तां चिंतयंतीं मुहुर्मुहुः ॥ १८७ ॥
एवं चिंतयतस्तस्याजस्रमच्छिन्नधारया ।
स्वाध्यायं ध्यानमप्येतज्ज्ञानमासीत्तपो व्रतम् ॥ १८८ ॥
अथैकदा स सौधर्मा गणी संघसमन्वितः ।
विहरन्नागतो भूयो वर्द्धमानाभिधे पुरे ॥ १८९ ॥
बाह्योद्यानप्रदेशेषु स्थिताः सर्वेऽपि संयताः ।
कायोत्सर्गेण चैकाग्र्यं शुद्धात्मध्यानसिद्धये ॥ १९० ॥
पारणस्य कृते व्याजादनुग्रामं चचाल सः ।
भवदेवश्चलच्चित्तो भार्यां द्रष्टुं समुत्सुकः ॥ १९१ ॥
पर्यटन्पथि पांथः संश्चिंतति स्म स सस्मरः ।
अद्य भुंजामि कांतां तां सालंकारां सकौतुकाम् ॥ १९२ ॥
तारुण्यजलधेर्वेलां कम्रां कामदुघामिव ।
मत्स्यीमिव विना तोयं मामृते विरहातुराम् ॥ १९३ ॥
चिंतयन्निति मार्गेषु क्रमाद् ग्राममवीविशत् ।
सांध्यरागारुणो भानुः प्रतीचीं च दिगंगनाम् ॥ १९४ ॥

१ कामुकीं ।

प्रविष्टः स ददर्शोच्चैर्जिनचैत्यगृहं शुभम् ।
उत्तुंगतोरणोपेतं ध्वजमालाभिराततम् ॥ १९५ ॥
मणिमुक्तामयैर्बाढं[1] भूषितं भूषणैः शुभैः ।
यातायातांगनाभिश्च कृतगानमहोत्सवम् ॥ १९६ ॥
त्रिः परीत्याथ भक्त्या तां वंदित्वा प्रतिमां विभोः ।
उपविष्टो यथास्थाने भवदेवो नाम्ना मुनिः ॥ १९७ ॥
तत्र चैत्यालये ख्याता सार्यिका या व्रतान्विता ।
चर्मास्थिशेषसर्वांगी मुनिं दृष्ट्वा ववंद तम् ॥ १९८ ॥
समाधानं मुने तेऽद्य संयमे तपसि व्रते ।
ध्याने ज्ञाने च स्वाध्याये तया कच्चिदितीरितम्[2] ॥ १९९ ॥
मुनिनापि यथायोग्यं पृष्ट्वा तत्कुशलं तदा ।
साम्नैव तां समुद्दिश्य प्रोक्तमंतःस्पृहालुना ॥ २०० ॥
आर्ये पूर्वमभूतां द्वौ विद्वांसौ ललिताकृती ।
द्विजस्यार्यवसोः पुत्रौ विख्यातौ सर्वसम्मतौ ॥ २०१ ॥
तत्र ज्यायानजेयोऽन्यैर्भावदेव इति स्मृतः ।
भवदेवो लघीयांश्च वाग्मी वेदविदांवरः ॥ २०२ ॥
पावने चेद्विजानासि ब्रूहि मे संशयाच्छिदे ।
क्व कथं तिष्ठतस्तौ द्वौ का कथा चाधुना तयोः ॥ २०३ ॥
सोचे तद्वाक्यमाकर्ण्य निर्विकारा सुचेष्टिता ।
धन्यौ तौ मुनिनाथौ द्वौ जातौ कालादिलब्धितः ॥ २०४ ॥
श्रुत्वेतद्भवदेवोऽसावुक्तवानसमंजसम् ।
उद्गिरन्निव गूढार्थमात्माकूतं तदातुरः ॥ २०५ ॥

१ अतिशयेन । २ कच्चित् कामप्रवेदने इत्यमरः ।

आर्ये वद किमप्यन्यत्पृच्छामीह महादरात् ।
न संदेशवचो दूष्यं महतामपि संमतम् ॥ २०६ ॥
नाम्ना नागवसू यासीद्भवदेवविवाहिता ।
सा विना पतिना बाला यावद्द्याभवत्कथम् ॥ २०७ ॥
इति वार्ता विकारैः स ज्ञातो भर्तृचरस्तया ।
पश्चात्तापं सुकुर्वत्या भिया कंपितयेव वा ॥ २०८ ॥
नूनं मुनिपदं त्यक्तमयमिच्छति मूढधीः ।
त्यक्तधैर्यातिकामांधो दुःसहस्मरपीडितः ॥ २०९ ॥
अतो धर्मानुरागाद्धि बोद्धव्योऽयं मयाधुना ।
यथाकथंचित्सद्वाक्यैर्जिनोक्तैरमृतोपमैः ॥ २१० ॥
अथ चेत्सस्मरश्चायं भोगानिच्छति सर्वतः ।
दृढव्रतं च मे भूयात्प्राणांतेऽपि गरीयसि ॥ २११ ॥
विचिंत्येति क्रियाक्रांता सोचे साक्षाद्दृढव्रता ।
विनयेनानता मूर्ध्नि भारतीव प्रियंवदा ॥ २१२ ॥
स्वामिन्नीड्य महाप्राज्ञ धन्योऽसि त्वं जगत्त्रये ।
चारित्रं यत्त्वया प्राप्तं दुष्प्राप्यं महतामपि ॥ २१३ ॥
त्वं पूज्यस्त्रिदिवेशानां मुनिः परमपावनः ।
सर्वसंपन्निधानस्त्वं मोक्षलक्ष्मीस्वयंवरः ॥ २१४ ॥
तारुण्येऽपि महाभोगान्कश्चैतांस्त्यक्तुमर्हति ।
भवतोऽन्यत्र भो सौम्य सुरलोकेऽपि दुर्लभान् ॥ २१५ ॥
प्रारंभे मधुराभासा विपाके कटुकाः स्फुटम् ।
हालाहलनिभा भोगाः सद्यःप्राणापहारिणः ॥ २१६ ॥

कश्चामृतं परित्यज्य विषमिच्छति मूढधीः ।
कश्चाश्मानं समादत्ते त्यक्त्वा जाम्बूनदं शठः ॥ २१७ ॥
स्वर्गापवर्गयोः शर्म मुक्त्वा को नरकं व्रजेत् ।
त्यक्त्वा जैनेश्वरीं दीक्षां भोगान् कामयतेऽधमः ॥ २१८ ॥
इत्यादिविविधैर्वाक्यैः प्रतिबोधविधायकैः ।
बोधितः स तया वेगाल्लज्जयाभूदधोमुखः ॥ २१९ ॥
पृष्टा नागवसू यात्र त्वया किंचित्स्पृहालुना ।
मामेवाध्यक्षतः पश्य तामभोगोचितां मुने: ॥ २२० ॥
वपुस्तस्याः कृमिस्थानं श्रवद्द्वारमपावनम् ।
मुखं लालाविलं पूति कालिंगसदृशं शिरः ॥ २२१ ॥
स्खलद्वाक्यमसंबन्धं बीभत्सो घर्घरः स्वनः ।
गर्ताकारौ कपोलौ द्वौ सुकूपाविव चक्षुषी ॥ २२२ ॥
किंवा बहुतरालापैः सैवैषाहं समक्षतः ।
शुष्कमांसौ भुजौ तस्याः पतितौ च पयोधरौ ॥ २२३ ॥
स्वाधिकारात्प्रमत्तौ द्वौ नराविव कुसेवया ।
चर्मास्थिभूतसर्वांगी निष्कामा व्रततत्परा ॥ २२४ ॥
धिग्दुर्दैवमिदं यन्मां स्मारं स्मारं पुनः पुनः ।
सशल्येन त्वया धीर कालोऽयं गमितो वृथा ॥ २२५ ॥
सुंदरं न किमप्यस्ति नूनं योषित्कुटीरके ।
अतश्चेतो विरज्याशु निःशल्यं तत्तपः कुरु ॥ २२६ ॥
तपसा येन प्राप्यंते स्वर्गमोक्षसुखानि च ।
किं वृथा विषयैरेभिः सौख्याभासनिबन्धनैः ॥ २२७ ॥

कामिन्यादिमहाभोगा भुक्तोच्छिष्टा ह्यनंतशः ।
यतस्तत्रानुरागेन किं मुने दुःखदायिना ॥ २२८ ॥
श्रुत्वा मुनिरिमां वाचं निर्गतां कामिनीमुखात् ।
धिक्कुर्वन्निवात्मानमीषल्लज्जापरोऽभवत् ॥ २२९ ॥
तस्याः प्रशंसनं चक्रे प्रतिबुद्धमना मुनिः ।
भवदेवोऽग्निसंयोगादिव कार्तस्वरोऽमलः ॥ २३० ॥
धन्ये त्वमद्य नौकासीद्भवाब्ध्युत्तरणे मम ।
निमज्जतः शतावर्ते मोहागाधतले भृशम् ॥ २३१ ॥
इत्युक्त्वाथ गतो वेगान्निःशल्यो मुनिसन्निधौ ।
मुक्तपात्रो भ्रमावर्ते संग्रहीतश्चिरादिव ॥ २३२ ॥
नत्वाथ मुनिनाथं तमुपविश्य यथासनं ।
यथावृत्तं स्ववृत्तान्तं तस्मै सर्वमचीकथत् ॥ २३३ ॥
छेदोपस्थापनं[1] कृत्वा ततश्चेतः स संयमी ।
जातः साक्षान्मुनिर्जेता कर्मणां भावशुद्धितः ॥ २३४ ॥
आत्मध्यानरतोऽप्यासीत्तद्रागद्वेषविवर्जितः ।
तपः कुर्वन्नजस्रं स भ्रात्रा सार्धमतिष्ठपत् ॥ २३५ ॥
निस्पृहः स्वशरीरेऽपि सस्पृहो मुक्तिसंगमे ।
सहिष्णुः क्षुत्पिपासादिदुःखानां समभावतः ॥ २३६ ॥
अरिमित्रतृणस्वर्णलाभालाभसमः शमी ।
निंदास्तुतिसमो धीमान् जीविते मरणे समः ॥ २३७ ॥

१ प्रमादकृतानर्थप्रबन्धविलोपे सम्यक्प्रतिक्रिया छेदोपस्थापना ।

अंते समाधिना मृत्युं संप्राप्य विमलाचले ।
पण्डितं[1] मरणं प्राप्तं द्वाभ्यां च शुभयोगतः ॥ २३८ ॥
ततस्तृतीये स्वर्गे द्वौ सनत्कुमारसंज्ञके ।
अभूतां दिविजौ राजन् सप्तसागरजीवितौ ॥ २३९ ॥
तत्र दिव्याप्सरोभोगान् भुंजानौ सुखमासतुः ।
द्वावपि व्रतमाहात्म्यात्पुत्रावार्यवसोर्नृप ॥ २४० ॥
यस्य धर्मस्य माहात्म्यात्तौ जातावमरेश्वरौ ।
स धर्मः शर्मसंसिद्ध्यै सेव्यः सद्भिर्निरन्तरम् ॥ २४१ ॥

इतिश्रीजम्बूस्वामिचरिते भगवच्छ्रीपश्चिमतीर्थकरोपदेशानुसरित-
स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदपण्डितराजमल्लविरचिते
साधुपासात्मजसाधुटोडरसमभ्यर्थिते भावदेवभवदेव-
सानत्कुमारस्वर्गगमनवर्णनो नाम
तृतीयः परिच्छेदः ।

---

१ मरणं त्रिविधं बालमरणं बालपण्डितमरणं पण्डितमरणं च । असंयतसम्यग्दृष्टीनां मरणं बालमरणं । संयतासंयतानां मरणं बालपण्डितमरणं । केवलिनां मरणं पण्डितमरणं ।

अथ चतुर्थपरिच्छेदः

उग्राग्रोतकवंशोत्थः श्रीपासातनयः कृती ।
वर्द्धतां टोडरः साधू रसिकोऽत्र कथामृते ॥

इत्याशीर्वादः ।

सुमतिं सुमतिं वंदे कुमतध्वांतशांतये ।
पद्मप्रभं त्रिधा नौमि पद्माभं पद्मबांधवम् ॥ १ ॥
अथ ताभ्यां सुखाम्भोधिमग्नाभ्यां मगधाधिप ।
निर्वाहितो निजः कालः सप्ताब्ध्यायुष्यसंमितः ॥ २ ॥
एकदाथ तयोरासन् भूषासंबन्धिनोऽमलाः ।
मणयस्तेजसा मंदा निशापाये प्रदीपवत् ॥ ३ ॥
माला चाप्यभवन्म्लाना महोरुस्थलगामिनी ।
शुचेव तत्स्वसंबन्धिलक्ष्मीविश्लेषभीरुका ॥ ४ ॥
प्रचकंपे तदा वाससंबंधी कल्पपादपः ।
तद्वियोगमहावातधूतः साध्वसमादधत् ॥ ५ ॥
वपुःकांतिस्तयोरासीत्सद्यो मंदायिता तदा ।
पुण्यातपत्रविश्लेषे तच्छाया क्वावतिष्ठते ॥ ६ ॥
तावालोक्य तदाध्वस्तकांती विच्छायतां गतौ ।
द्रष्टुमक्षमकाः सर्वे सनत्कुमारकल्पजाः ॥ ७ ॥
तयोर्दैन्यात्परिप्राप्ता दैन्यं तत्परिचारकाः ।
तरौ चलति शाखाद्या विशेषान्न चलंति किम् ॥ ८ ॥

आजन्मतो यदाभ्यां हि संप्राप्तं सुखमामरम् ।
तत्तदा पिंडितं सर्वं दुःखीभूयमिवागमत् ॥ ९ ॥
अथ संबंधिनो देवास्तावुपेत्य यथोचितम् ।
तयोर्विषादनाशाय पुष्कलं वचनं जगुः ॥ १० ॥
भो धीरौ धीरतामेव कुर्वीताथां शुचात्र किम् ।
जन्ममृत्युजरातंकभयानां को न गोचरः ॥ ११ ॥
साधारणी भवत्येषा सर्वेषां प्रच्युतिर्दिवः ।
द्यौरायुषि परिक्षीणे न वोढुं क्षमते क्षणम् ॥ १२ ॥
नित्यालोकोऽप्यनालोको द्विलोकः प्रतिभासते ।
विरामात्पुण्यदीपस्य समंतादंधकारितः ॥ १३ ॥
यथा रतिरभूत्स्वर्गे पुण्योपायादनारतम् ।
तथैवात्रारतिर्भूयः क्षीणपुण्यस्य जायते ॥ १४ ॥
न केवलं परिम्लानिर्मालायाः सहजन्मनः ।
पापातपे तपत्यंते जंतोर्म्लानिस्तनोरपि ॥ १५ ॥
कंपते हृदयं पूर्वं चरमं कल्पपादपः ।
गलति श्रीः पुरा पश्चात्तनुच्छाया समं ह्रियाः ॥ १६ ॥
प्रत्यासन्नच्युतेरेव यद्दौःस्थ्यं त्रिदिवौकसाम् ।
न तत्स्यान्नारकस्यापि प्रत्यग्रं युवयोः स्थितम् ॥ १७ ॥
यथोदितस्य सूर्यस्य निश्चितोऽस्तमयः परः ।
तथा पातोन्मुखः स्वर्गे जंतोरभ्युदयोऽप्ययम् ॥ १८ ॥
तस्मान्न गच्छतः शोकं कुयोन्यावर्तपातिनम् ।
कुर्यातां च मतिं धर्मे युवामार्यौ वृषार्जने ॥ १९ ॥

इत्थं तत्प्रतिबोधाद्धि धैर्यमालम्ब्य धीधनौ ।
कारयामासतुर्धर्मे मतिं जैने सुखप्रदे ॥ २० ॥
निरुद्धेन्द्रियरूपाणि व्रतान्यादातुमक्षमौ ।
तत्पर्यायस्वभावत्वान्नेच्छारोधो दिवौकसाम् ॥ २१ ॥
ततः केवलमिज्याहौं चक्रतुर्जिनवेश्मनाम् ।
पूजां तत्रत्यबिम्बानामपि भावविशुद्धये ॥ २२ ॥
तच्चैत्यद्रुममूलस्थौ स्वायुरंते समाहितौ ।
प्रतिमाध्यानयोगेन ध्यानैकाग्र्यावलंबिनौ ॥ २३ ॥
नमस्कार[1]पदान्युच्चैः स्मरंतौ निर्भयाविह ।
मुकुलीकृत्य करौ साक्षात्क्षणाद्दृश्यतां गतौ ॥ २४ ॥
जम्बूद्वीपे महामेरौ विदेहे पूर्वदिग्गते ।
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः कालभेदविवर्जिते ॥ २५ ॥
द्विरुक्तसुषमादीनां दुःखांतानामनास्पदे ।
सदा तीर्थकरोत्पत्तौ तत्पदस्पर्शपावने ॥ २६ ॥
विष्णूनां प्रतिविष्णूनां चक्रेशानां तथैव च ।
उत्पत्तिस्थानके रम्ये लांगुलायुधशालिनाम् ॥ २७ ॥
कर्मभूमिरिति ख्याते धनधान्यसमन्विते ।
नीवृत्[2] संपद्यते तत्र नाम्ना च पुष्कलावती ॥ २८ ॥
यत्र ग्रामाः समासन्नाः कुक्कुटोड्डीन[3]मात्रकाः ।
पदे पदे समासीना दृश्यंते सस्यसंपदः । ॥ २९ ॥
सरांसि यत्र राजंते पद्माक्षीणीव सज्जलम् ।
दृष्ट्वा तत्रत्यनारीणां चक्षूंषि साश्रुतां ययुः ॥ ३० ॥

---

१ नमस्कारमन्त्रं । २ देशः । ३ कुक्कुटैस्ताम्रचूडैः उड्डीय सम्यक् प्राप्यन्ते इति ।

अपि यत्र महामानमानसा रेमिरे भृशम् ।
कलहंसरवैस्तूर्णं गायंतीव हि तद्यशः ॥ ३१ ॥
सप्रपाः कूपका यत्र वाप्यो वारिजलोचनाः ।
घनं वनानि मार्गेषु निधानानि पदे पदे ॥ ३२ ॥
ग्रामा यत्र विराजंते पुरंदरपुरोपमाः ।
नराः सुंदरभूषाढ्या नार्यश्चाप्यतिसुंदराः ॥ ३३ ॥
किमत्र वर्णयेद्विद्वान् यत्र सौख्यं निरंतरम् ।
दिदृक्षया तीर्थेशानां दिवःखण्डमिवागतम् ॥ ३४ ॥
तत्रास्ति महती नाम्ना रम्या पूः पुण्डरीकिणी ।
द्वादशयोजनायामा नवयोजनविस्तृता ॥ ३५ ॥
यत्रोपवनराजीभी राजते भूमिरुत्तमा ।
खातिका यत्र पातालं शालश्चाप्यंबरं स्पृशेत् ॥ ३६ ॥
जैनधर्मरता यत्र श्रावका मुनयस्तथा ।
रमंते व्रततीर्थेषु मराला मानसेष्विव ॥ ३७ ॥
तपः कुर्वंति घोरोग्रमुग्रा यत्र तपोधनाः ।
बाह्योद्यानेषु निर्भीकाः सर्वसंगविवर्जिताः ॥ ३८ ॥
यत्र कर्मक्षयं कृत्वा केवलोद्भूतिरक्षया ।
जायते प्राणिनां शश्वत्केषांचिद्भव्यसंज्ञिनाम् ॥ ३९ ॥
केषांचित्सम्यक्त्वोत्पत्तौ रत्नगर्भावनिर्यथा ।
साभूत्स्वर्गादिसौख्यानां प्राप्तौ निःश्रेणिकेव च ॥ ४० ॥
तत्र भूपोऽस्ति नाम्नापि वज्रदंतो बलान्वितः ।
केवलं न रदास्तद्वत्सर्वं वज्रमयं वपुः ॥ ४१ ॥

ज्वलत्यस्य प्रतापाग्नौ सोढुमक्षमकाः परे।
क्षणादेव पलायंते दूराद्दर्शनमात्रतः ॥ ४२ ॥
तस्य पत्नी तु नाम्ना स्यात्पट्टबद्धा यशोधना।
मन्मथस्य धनुर्यष्टिरिव सौंदर्यराजिता ॥ ४३ ॥
भावदेवचरः सोऽयं देवोऽभूत्तृतीये दिवि।
ततश्च्युत्वा तयोः पुत्रः संजातः स्वायुषः क्षये ॥ ४४ ॥
ततो बन्धुभिराम्नातः परमानंदवर्द्धनात्।
नाम्ना सागरचंद्रोऽसाविन्दुवद्वर्द्धते क्रमात् ॥ ४५ ॥
अपि तत्रैव देशेऽस्ति वीतशोका पुरी वरा।
चंद्राश्मघटिता यत्र भित्तयो भांति कांतिभिः ॥ ४६ ॥
यत्र नार्यः समालोक्य भित्तौ स्वप्रतिबिम्बकम्।
सपत्नीभ्रांतितो यांति विमुखा रतकर्मणि ॥ ४७ ॥
यत्र क्रीडाचलेषूच्चैः खेलंति नवयौवनाः।
क्रीडार्थं पतिभिः सार्द्धं क्वचिच्चापि लतागृहे ॥ ४८ ॥

---

१ हर्म्याङ्गणेषु खचितस्फटिकोपलेषु
काचिच्च बालवनितानुपतिं नवोढा।
दृष्ट्वात्मनः प्रतिनिधिं किल शंकितासी-
द्रक्तेक्षणा क्षणममर्षधिया सपत्न्याः ॥ लाटीसंहितायां १–२९।

चन्द्रप्रभचरितेऽपि एतत्समानार्थकः श्लोकः—
निपातयन्ती तरले विलोचने
सजीवचित्रासु निवासभित्तिषु।
नवा वधूर्यत्र जनाभिशंकया
न गाढमालिंगति जीवितेश्वरम् ॥ १–२७।

कदाचिज्जलकेलौ ता रमन्ते रमणैः सह ।
यत्रोपवनवीथीषु कामुक्यः पर्यटंति च ॥ ४९ ॥
तत्रास्ति बलवांश्चक्री महापद्मोऽभिधानतः ।
यस्य तेजोमयी कीर्तिर्विस्तृता भुवनत्रये ॥ ५० ॥
निधीनां[1] च नवानां स्यादधीशः सर्वसंपदाम् ।
चतुर्दश[2]प्रमितानां रत्नानामधिपः स्मृतः ॥ ५१ ॥
षट्खण्डवसुधायाश्च पतिश्चैकोऽद्वितीयकः ।
द्वात्रिंशत्कसहस्राणां भूपानां सेवितक्रमः ॥ ५२ ॥
षण्णवतिसहस्राणां योषितां वल्लभः स्मृतः ।
अब्जिनीनां समुत्साहे सहस्रांशुरिवोदितः ॥ ५३ ॥
तत्र काचिन्महादेवी वनमाला नाम्ना मता ।
रतकर्मविधौ सासीद्दिव्यौषधवच्चक्रिणः ॥ ५४ ॥
तद्गर्भेऽवततारासौ भवदेवचरोऽमरः ।
क्रमाच्छुभे दिने लग्ने पुमानजनि भूतले ॥ ५५ ॥
ततो जन्मोत्सवस्तस्य कृतो मुदितचक्रिणा ।
याचकेभ्यो यथाकामं दत्तं स्वर्णादिकं बहु ॥ ५६ ॥
तूर्याणां निनदैस्तत्र बधिरीकृतदिक्चयम् ।
गायंतीर्मंगलोद्गीतिं नृत्यंति स्म वरस्त्रियः[3] ॥ ५७ ॥

---

१ महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ ।
　मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥

२ सेनापतिगृहपतिपुरोहितगजहयसूत्रधारस्त्रीचक्रछत्रचर्ममणिकाकिनीखड्गदंडेति चतुर्दशनररत्नानि ।

३ वेश्याः

पेठुश्चारणवृंदाश्च गद्यपद्यादिसंस्तुतिम् ।
नराः कुसुमसंमिश्रचंदनद्रवचर्चिताः ॥ ५८ ॥
अथ पुत्राननं चक्री निरीक्ष्य मुदमाययौ ।
धातुवादी यथानंदं लभेत्प्राप्य रसायनम् ॥ ५९ ॥
ततश्चक्रेऽथ चक्रेशो बन्धुवर्गसमाहितः ।
नाम्ना शिवकुमारं तं लब्धान्वर्थाभिधानकम् ॥ ६० ॥
स्तनंधयः[1] पयःपानैर्वृद्धिमाप दिने दिने ।
यथा बालशशी नूनं कलाभिर्वर्धतेऽनिशम् ॥ ६१ ॥
शैशवे मातुरंकस्थः केवलं न तदा भवेत् ।
किंतु यावत्क्षणं हस्तैर्लालितः स्वजनैरपि ॥ ६२ ॥
क्रमाज्जातकुमारोऽसावष्टवर्षप्रमान्वितः ।
पपाठ शब्दशास्त्राणि तदर्थानुगतानि वै ॥ ६३ ॥
अधीती शस्त्रविद्यायां संगीतेऽथापि नाटके ।
युद्धे वीरगुणोपेतो भूभारोद्धरणक्षमः ॥ ६४ ॥
उद्वाहितोऽथ कन्याभिः समं तच्छतपंचभिः ।
चक्रिणानंदयुक्तेन परमोत्सवकारिणा ॥ ६५ ॥
राजते स्म कुमारोऽसौ समं सामंतमंत्रिभिः ।
निर्जिताशेषनक्षत्रकांतिरिन्दुरिवैककः ॥ ६६ ॥
कदाचिद्गीतगोष्ठीभिः रमते स्म शुभाननः ।
क्वचिदातोद्यनादेन प्रीतिवांश्चक्रिनंदनः ॥ ६७ ॥
क्वचिद्वादेषु वैद्यानां भट्टानां च ज्योतिष्मताम् ।
कौतुकी तर्कवादेषु परस्परविरोधिषु ॥ ६८ ॥

---

१ स्तनं धयति इति स्तनंधय अतिशिशुः ।

क्वचित्कवित्वगोष्ठीषु क्वचिन्नाट्यरसेषु च ।
क्वचित्क्रीडाद्रिखेलायां चिक्रीड सह यौवनैः ॥ ६९ ॥
वनोपवनवीथीषु सरितां पुलिनेषु च ।
सरःसु जलक्रीडायै कांताभिरगमन्मुदम् ॥ ७० ॥
आलिंगनं ददौ स्त्रीणां कदाचिद्रतकर्मणि ।
तासां स्मितकटाक्षैश्च रंजमानो मुहुर्मुहुः ॥ ७१ ॥
कदाचिन्मानिनीं मुग्धां कोपनां प्रणयात्मिकाम् ।
नयति स्म यथोपायमनुनयं नयात्मकः ॥ ७२ ॥
क्वचिच्चैत्यालये गत्वा जिनबिम्बानपूजयत् ।
वारिगंधादिसामग्र्या भावशुद्ध्या च पावनः ॥ ७३ ॥
क्वचिद्धर्मं शृणोति स्म गुरुभ्यः सुखकारकम् ।
इत्थं शिवकुमारोऽसौ यौवनेऽप्यगमन्मुदम् ॥ ७४ ॥
अंतरे पुंडरीकिण्यामस्ति सागरचन्द्रमाः ।
भावदेवचरः सोऽयं भोगसागरमध्यगः ॥ ७५ ॥
अथान्येद्युः समायातस्त्रिगुप्तिर्मुनिसत्तमः ।
प्रतिभाति जगत्सर्वं यस्य ज्ञानचतुष्टये ॥ ७६ ॥
सर्वपौरजनास्तत्र वंदनार्थं वने ययुः ।
वीक्ष्य सागरचंद्रोऽपि जगाम मुनिसंनिधौ ॥ ७७ ॥
ततो नागरिका धर्मं पप्रच्छुर्विनयान्विताः ।
स्वीयं सागरचंद्रस्तु पृच्छति स्म भवांतरम् ॥ ७८ ॥
ततोऽवादीन्मुनिस्तत्र विमृश्यावधिचक्षुषा ।
शृणु वत्स महाभाग वृत्तं पूर्वभवोद्भवम् ॥ ७९ ॥

जम्बूद्वीपेऽथ क्षेत्रेऽस्मिन् भारते भरतान्विते ।
देशेऽत्र मगधे रम्ये वर्धमानाभिधे पुरे ॥ ८० ॥
युवां द्विजपुत्रौ स्यातां वेदविद्यौ विदांवरौ ।
प्रथमो भावदेवाख्यो द्वितीयो भवदेवकः ॥ ८१ ॥
अथैकदा स सौधर्ममुनिना प्रतिबोधितः ।
भावदेवस्तपः शीघ्रमग्रहीद्गृहभीरुकः ॥ ८२ ॥
भवदेवो लघुर्भ्राता ततस्तिष्ठति सद्मनि ।
इत्थं गतः कियान्कालः स्वाधिकाराप्रमत्ततः ॥ ८३ ॥
धर्मानुरागतः सोऽयं भावदेवो मुनिस्तदा ।
भ्रातरं बोधितुं तत्र व्याजगाम पुनः शमी ॥ ८४ ॥
ततो धर्मोपदेशैश्च नीयमानोऽप्यवक्रताम् ।
सशल्योऽपि च लज्जावान् दीक्षां जग्राह शुद्धधीः ॥ ८५ ॥
ततः कुतश्चिद्धेतोश्च निःशल्यो व्रततत्परः ।
बभूव मुनिसांनिध्याच्चारित्रैकनिधिः पुनः ॥ ८६ ॥
क्रमाच्चिरतरं कालं चारित्रं चरतो युवाम् ।
अंते समाधिमरणं प्रापतुः पूर्णपुण्यतः ॥ ८७ ॥
ततः सनत्कुमाराख्ये तृतीये दिवि जग्मतुः ।
तत्रोपपादशय्यायां जातौ पूर्णशरीरकौ ॥ ८८ ॥
तत्रस्थौ दिव्यभोगांश्च भुंक्तो निःप्रत्यनीकतः ।
मनोभिलषितान् रम्यान् यावत्सागरसप्तकम् ॥ ८९ ॥

---

१ शुक्रशोणितयोः मिश्रणं विनैव देवाः नारकाश्च उपपादशय्यायां युवान एव उत्पद्यंते । उपेत्योत्पद्यते अस्मिन् इति उपपादः ।

स्वायुरंते ततश्च्युत्वा वज्रदंतनृपालये ।
जातस्त्वं भावदेवो यः स त्वं सागरचंद्रमाः ॥ ९० ॥
भवदेवचरस्तत्र चक्रवर्तिगृहेऽजनि ।
नाम्ना शिवकुमारोऽसावोजस्वी भानुमानिव ॥ ९१ ॥
भवद्दर्शनमात्रेण प्राप्य स्वीयां भवस्मृतिम् ।
वपुःसंसारभोगेषु विरक्तः स भविष्यति ॥ ९२ ॥
आकर्ण्येदं कुमारोऽसौ मुनिवाक्याद्भवांतरम् ।
संसारासारतां मत्वा जातो धर्मपरायणः ॥ ९३ ॥
अहो जगदिदं कृत्स्नं जन्ममृत्युजरास्पदम् ।
अत्र सारः किमस्तीति चिंतयामास सत्तमः ॥ ९४ ॥
सारोऽस्त्यत्र दयाधर्मो जैनो मुक्तिसुखप्रदः ।
स चेन्द्रियकषायाणां दुर्मदे दमनक्षमः ॥ ९५ ॥
कार्यः स एव जीवेन स्वात्मनः सुखमिच्छता ।
इति सागरचन्द्रोऽसौ निश्चिकाय विदांवरः ॥ ९६ ॥
ततस्तस्य मुनेः पार्श्वे दीक्षां जग्राह कोविदः ।
सार्धं कैश्चिच्च भूपालैर्निःशल्यः सर्वजन्तुषु ॥ ९७ ॥
ततः समसुखदुःखोऽसौ रिपुमित्रसमः शमी ।
समः पितृवने सौधे जीविते मरणे समः ॥ ९८ ॥
बाह्याभ्यंतरतो द्वेधा तपश्चोग्रं चकार सः ।
परीषहोपसर्गैश्च न चचाल समाधितः ॥ ९९ ॥

१ श्मशाने । २ अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः । प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।

क्रमात् कुर्वन् विहारं स चारणर्द्धिविराजितः ।
संप्राप्तः श्रुतसंपूर्णो वीतशोकां पुरीं वराम् ॥ १०० ॥
तत्र मध्याह्नकालेऽसौ कृतेर्यापथशुद्धिभाक् ।
पारणार्थमनौद्धत्या (त्यं) विजहर्ष यथाविधि ॥ १०१ ॥
राजसौधसमीपस्थे कस्यचिच्छ्रेष्ठिनो गृहे ।
नवकोटिविशुद्धः स ग्रासं जग्राह शुद्धधीः ॥ १०२ ॥
मुनिदानस्य माहात्म्याद्रत्नवृष्टिरभूत्तदा ।
नभोमार्गात्सुधाराभिर्दातुः पुण्यगृहांगणे ॥ १०३ ॥
अवलोक्य जनाः सर्वे वावदूकाः परस्परम् ।
जजल्पुः किमिदं तूर्णं जातं चित्रास्पदं महत् ॥ १०४ ॥
परस्परविवादाद्वै तत्र कोलाहलोऽजनि ।
ततः शिवकुमारोऽपि श्रुतवानितिवृत्तकम् ॥ १०५ ॥
आनंदात्कौतुकाच्चापि सौधस्थोऽपि निरीक्ष्य तम् ।
मुनीशं विस्मयं प्राप किंचिच्चित्तेऽप्यचिंतयत् ॥ १०६ ॥
अहो क्वापि मया दृष्टो मुनीशोऽयं भवांतरे ।
स्नेहार्द्रं मे मनोऽल्हादि संस्कारात्पूर्वजन्मनः ॥ १०७ ॥
पृच्छाम्येनं मुनिं गत्वा संशयध्वांतशांतये ।
इति चित्ते चिंतयामास तावज्जाता भवस्मृतिः ॥ १०८ ॥
तया सर्वं तदाज्ञायि वृत्तं पूर्वभवोत्थितम् ।
नूनं मम ज्येष्ठो भ्राता तपःस्थोऽयं महामुनिः ॥ १०९ ॥
अनेनैव तदा धर्मे स्थापितोऽहमनुग्रहात् ।
येन पुण्योदयेनैव प्राप्ता सौख्यपरंपरा ॥ ११० ॥

१ ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः इत्यमरः ।

भुक्त्वा सनत्कुमारोत्थान् महाभोगाननंतरम् ।
प्राप्तं चक्रिगृहे जन्म चास्पदे सर्वसंपदाम् ॥ १११ ॥
इहामुत्र मम भ्राता गतिश्चायं कृपापरः ।
स्मरन् भवांतरं प्राज्ञस्तत्समीपेऽगमत्तदा ॥ ११२ ॥
स्नेहार्द्राक्षपुटः सोऽयं दृष्ट्वा तं मुनिकुंजरम् ।
मुमूर्छ मुनिपार्श्वस्थः प्रमोद्गारगदादिव ॥ ११३ ॥
चक्रवर्ती तु तच्छ्रुत्वा वेगात्तत्रागतः क्षणात् ।
मोहादुद्रि(त्थि)तबाष्पांभो विललाप महीपतिः ॥ ११४ ॥
अहो पुत्र किमेतद्धि त्वयाकारि विरूपकम् ।
किमत्र कारणं वत्स वद वाक्यमभीतिदम्[1] ॥ ११५ ॥
काचित्कांतातिस्नेहार्द्रा कंपमाना ससाध्वसात् ।
श्वासोच्छ्वासमहावातैः प्रचकंपे लता यथा ॥ ११६ ॥
काचिन्मुग्धापि प्रेमाढ्या विभीता नवसंगमे ।
साश्रुपातप्रवाहैश्च व्यक्तं रोदिति केवलम् ॥ ११७ ॥
काचिन्मध्यातितारुण्याद्रुद्धा कामरसे स्फुटम् ।
तद्वियोगभयार्तात्र ज्वलति स्म स्मरातुरा ॥ ११८ ॥
काचित्प्रौढा रसज्ञा च तदालापे सुधोपमे ।
स्मारं स्मारं गुणांस्तस्य स्थिता चित्रार्पितेव सा ॥ ११९ ॥
सर्वे पौरजनाश्चापि व्याकुलीभूतचेतसः ।
क्षणं यावदसौस्थित्यादन्नं पानं च नाददुः ॥ १२० ॥
एवं तत्र महान् शोको दुःसहोऽजनि भूतले ।
हानौ पुण्यपदार्थस्य भीतिः केषां न जायते ॥ १२१ ॥

१ अभयप्रदम् ।

ततो यथाकथंचिद्वै यत्नैर्नीतोऽत्रधानताम् ।
कुमारः प्रतिबुद्धोऽभूत्सहस्रांशुरिवाहनि ॥ १२२ ॥
पृष्टः सर्वैः कुमारोऽसौ कथं मूर्च्छाभवत्तव ।
कथयाशु यथार्थत्वं शर्मदं वाक्यमुत्तमम् ॥ १२३ ॥
ततोऽवादीद्विमृश्यासौ गुह्यमाकूतमात्मनः ।
सुहृदे मंत्रिपुत्राय नाम्ना दृढवर्म्मणेऽनिशम् ॥ १२४ ॥
चिंतागूढगदार्तानां मित्रं स्यात्परमौषधम् ।
यतो युक्तमयुक्तं वा सर्वं तत्र निवेद्यते ॥ १२५ ॥
मित्राहं भवभोगेभ्यः संत्रस्तोऽस्मि भवाश्रितः ।
नानायोनिशतावर्त्तैर्दुःखभीमैर्दुरुत्तरात् ॥ १२६ ॥
तदाकूतं समादाय कर्तुमिच्छत्ययं तपः ।
सर्वं चक्रधरस्याग्रे कथितं दृढवर्म्मणा ॥ १२७ ॥
स्वामिन्नसौ समासन्नभव्यजीवो विशुद्धदृक् ।
विद्यते मन्यमानः सन्साम्राज्यं तृणवच्चितः ॥ १२८ ॥
सर्वथाद्य विरक्तात्मा सर्वभोगेषु निस्पृहः ।
न चास्य लेशतोऽपीश मूर्च्छा स्याज्जीवने धने ॥ १२९ ॥
अयं स्वात्मस्वरूपज्ञस्तत्त्ववेदी विदांवरः ।
सर्वं हेयमुपादेयं वेत्ति जैनो यतिर्यथा ॥ १३० ॥
न केनाप्यन्यथाकर्तुं शक्यते दृढबुद्धिमान् ।
रागवाक्यमहावातैरचलोऽचलवद्ध्रुवम् ॥ १३१ ॥
सांप्रतं प्राप्तवैराग्यः संस्कारात्पूर्वजन्मनः ।
निःशल्यः सर्वजीवेषु प्राव्राजिषुरसंशयम् ॥ १३२ ॥

---

१ चेतनतां । २ मोहः ।

आकर्ण्येदं वचश्चक्री निष्ठुरं वज्रघातवत् ।
व्यग्रं चेतश्चमत्कारं न चकारोत्तरप्रदम् ॥ १३३ ॥
क्षणं वेपथुरस्यासीद्धृदि व्यामोहशालिनि ।
स्रवदश्रुसमाच्छन्नचक्षुःपक्ष्मावली बलात् ॥ १३४ ॥
गद्गदं च वचो जल्पन्ननल्पकरुणास्वनः ।
विललाप महीपालो हा धिग्धिग्दैवचेष्टितम् ॥ १३५ ॥
अन्यथा चिंतितं कार्यं दैवात्संपद्यतेऽन्यथा ।
यथा वारिजमध्यस्थः षट्पदः करिणा हतः ॥ १३६ ॥
रुदं(दि)त्येवं ससंतापं चक्रवर्तिन्यनल्पशः ।
अंतःपुरजनैः सार्धं वनमाला गता तदा ॥ १३७ ॥
पुत्र केनापि दुष्टेन पाठितस्त्वं स्तनंधयः ।
अप्रगल्भा मतिश्चेयं विद्यते तव संप्रति ॥ १३८ ॥
बाल्यावस्था क्व ते वत्स क्व प्रव्रज्यापदं महत् ।
इदं कार्यमसंभावि घटते न कदाचन ॥ १३९ ॥
ततो भुंक्ष्व महाभोगान् दिव्यानमरदुर्लभान् ।
आनमत्सर्वभूपालसाम्राज्यपदसंस्थितः ॥ १४० ॥
इत्यादिकं पितुर्वाक्यं शृण्वन्नांगीचकार सः ।
कुमारः प्रतिवाक्यं च ददौ कोमलया गिरा ॥ १४१ ॥
तात कर्मवशान्नूनं बंभ्रम्यंते च जंतुभिः ।
चतुर्गतिभवावर्ते स्थितं क्वापि न निश्चलम् ॥ १४२ ॥
कदाचिन्नारको भूत्वा भवति तिर्यग्वा नरः ।
ततः स्वायुःक्षये मृत्वा स्याद्देवोऽथ तदन्यकः ॥ १४३ ॥

पुत्रः कोऽपि न कस्यापि पिता वा न सुतस्य वै ।
उन्मज्जंति निमज्जंति जीवा जलतरंगवत् ॥ १४४ ॥
नेयं लक्ष्मी पितः साध्वी सद्भिर्भुक्त्वोज्झिता यतः ।
एकं त्यक्त्वा श्रितान्यत्र पण्यदारेव चंचला ॥ १४५ ॥
कर्तव्यो नात्र विश्वासः क्षणं वाऽनवधानतः ।
ठक्काभिसारिका तुल्या कारणं दुःखसंकटे ॥ १४६ ॥
भोगा भुजंगभोगाभाः सद्यःप्राणापहारिणः ।
स्वप्नेन्द्रजालवत्तात तारुण्यं विपयास्पदम् ॥ १४७ ॥
इदं प्रत्यक्षतो ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानकारणम् ।
स्यात्साध्वी यदि राज्यश्रीः कथं त्यक्ता महर्षिभिः ॥ १४८ ॥
श्रूयतेऽद्य पुरावृत्तं श्रीमंतो ज्ञानलोचनाः ।
त्यक्त्वा सर्वांगसाम्राज्यं तपश्चक्रुर्विमुक्तये ॥ १४९ ॥
कुरु तात समाधानमलं भोग्यैरभोग्यकैः ।
आपाते मधुरै रम्यैर्विपाके कटुकैरिह ॥ १५० ॥
स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्पदं यत्र नापदः ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं तत्सुखं यत्र नासुखम् ॥ १५१ ॥
श्रुत्वा पुत्रवचश्चक्री शब्दसंदर्भगर्भितम् ।
निश्चिकाय ततः प्राज्ञः सुतस्यापि मनीषितम् ॥ १५२ ॥

१ गणिका । २ 'ठगिनी' दूती । ३ यशस्तिलकचम्पूकाव्ये सप्तमाश्वासे श्लोकोऽयं निम्नरूपेणोपलभ्यते ।

सधर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखं ।
तज्ज्ञानं यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥

नूनं स्वात्महितायासौ निर्विण्णो भवभीरुकः ।
उग्रं तपः समादाय गंतातः परमां गतिम् ॥ १५३ ॥
जानन्नपि महामोहादुवाच धरणीपतिः ।
सूनो विधेहि कारुण्यं मयि यथान्यशरीरिषु ॥ १५४ ॥
चातुर्यैकनिधे सौम्य पर्यालोचय सांप्रतम् ।
तथा ते तपसः सिद्धिर्मम भावत्कदर्शनम् ॥ १५५ ॥
ततः संप्रस्थितो भूत्वा कुरु पुत्र यथेप्सितम् ।
उग्रं तपोव्रतादीनि यथाशक्ति समाचर ॥ १५६ ॥
रागद्वेषौ न विद्येते यद्यात्मज वनेन किम् ॥
स्यातां चेदथ संक्लेशात्तदानेन वनेन किम् ॥ १५७ ॥
इत्यादिकं पितुर्वाक्यं श्रुत्वासौ करुणास्पदः ।
क्षणं वाचंयमी तस्थौ निस्तरंगसमुद्रवत् ॥ १५८ ॥
ततो मृदुगिरोवाच कुमारः करुणार्द्रितः ।
एवमस्तु करिष्येऽहं यथा तात मनीषितम् ॥ १५९ ॥
कुमारस्तद्दिनान्नूनं सर्वसंगपराङ्मुखः ।
ब्रह्मचार्येकवस्त्रोऽपि मुनिर्वात्तिष्ठते गृहे ॥ १६० ॥
अकामी कामिनां मध्ये स्थितो वारिजपत्रवत् ।
अहो ज्ञानस्य माहात्म्यं दुर्लभ्यं महतामपि ॥ १६१ ॥
क्वचिदेकांतरे भुंक्ते द्व्यन्तरेऽथ कदाचन ।
पक्षान्तरेऽथ मासान्ते स्वच्छं सजलमोदनम् ॥ १६२ ॥
प्राशुकं शुद्धमाहारं कृतकारितवर्जितम् ।
आदत्ते भिक्षयानीतं मित्रेण दृढवर्म्मणा ॥ १६३ ॥

तत्र तीव्रतपोवह्नौ दह्यमानं विलोक्य वै ।
मारक्रोधादयो नष्टाः प्रादुरासन्न ते पुनः ॥ १६४ ॥
एवं वर्षचतुःषष्टिसहस्राणि तपस्यता ।
नीतानि पापभीतेन कुमारेण महात्मना ॥ १६५ ॥
स्वायुरंते ततो जातो यथाजातो महामुनिः ।
त्यक्त्वा चतुर्विधाहारं प्रांत्यविधौ जितेन्द्रियः ॥ १६६ ॥
ततस्तपःफलान्नूनमणिमादिगुणान्वितः ।
ब्रह्मोत्तरे सुरेन्द्रोऽभूद्विद्युन्माली तदाख्यया ॥ १६७ ॥
आयुःप्रमाणमस्यासीद्दशसागरसंख्यकम् ।
महादेव्योऽपि विद्यन्ते चतस्रः प्राणवल्लभाः ॥ १६८ ॥
सोऽयं प्रत्यक्षतो राजन् राजते दिवि देवराट् ।
नास्य कांतिरभूत्तुच्छा सम्यक्त्वस्यातिशायितः ॥ १६९ ॥
अथ सागरचन्द्राह्वो यो मुनिव्रततत्परः ।
संन्यासेन वपुस्त्यक्त्वा प्रतीन्द्रस्तत्र सोऽभवत् ॥ १७० ॥
सोऽपि नानाविधं सौख्यं भुंक्ते पंचाक्षसंभवम् ।
मनोभिलषितं रम्यं निर्विघ्नं च यथेप्सितम् ॥ १७१ ॥
धर्मात्सुखं कुलं शीलं धर्मात्सर्वा हि संपदः ।
इति मत्वा सदा सेव्यो धर्मवृक्षः प्रयत्नतः ॥ १७२ ॥

इतिश्री जम्बूस्वामीचरित्रे भगवच्छ्रीपश्चिमतीर्थकरोपदेशानुसारि-
स्याद्वादानवद्यगद्यविशारदपण्डितराजमल्लविरचिते
साधुपासातनयश्रीसाधुटोडरसमभ्यर्थिते
भावदेवभवदेवब्रह्मोत्तरस्वर्गगमनवर्णनो
नाम चतुर्थः सर्गः ।

अथ पंचमः सर्गः

कुर्वन्तु मंगलं नित्यं चतुर्विंशजिनाधिपाः ।
श्रीसाधुटोडरस्यास्य साधुपासात्मजस्य वै ॥ १ ॥

इत्याशीर्वादः ।

सुपार्श्वं पार्श्वरोचिष्णुं वंदे विघ्नौघशान्तये ।
चन्द्रप्रभमहं नौमि चन्द्ररोचिर्यशश्चयम् ॥ १ ॥
अथातः श्रेणिको नम्रः पृच्छति स्म गणाधिपम् ।
इमा देव्यश्चतस्त्रोऽपि कुतः पुण्यादिहागताः ॥ २ ॥
आसां भवांतराणीश वद संशयविच्छिदे ।
ततोवाच गणेशानो विनयग्राह्या हि योगिनः ॥ ३ ॥
शृणु श्रेणिक देशेऽस्मिन्नगरी स्याच्चंपापुरी ।
तत्राद्यः सूरसेनोऽस्ति श्रीमतामग्रतो वरः ॥ ४ ॥
तस्य भार्याश्चतस्त्रः स्युस्तासां नामान्यथ शृणु ।
जयभद्रा सुभद्रा च धारिणी च यशोमती ॥ ५ ॥
आभिर्भोगान् भुनक्ति स्म चिरं यावच्छुभोदयः ।
पुनश्चोदीरितः पापस्तीव्रसंक्लेशसंभवः ॥ ६ ॥
ततः पापोदयादेव स्यादामयमयं वपुः ।
युगपत्सर्वरोगाणां सन्निपातमिवाभवत् ॥ ७ ॥
कासः श्वासः क्षयश्चैव जलोदरभगंदरौ ।
संधिभेदी महावायुरसह्यस्तस्य चाभवत् ॥ ८ ॥

---

१ रोगयुक्तं ।

व्याधिव्याप्तशरीरत्वाद्धातवः स्युर्विपर्ययाः ।
तस्य तीव्राभिलाषी स्याच्छ्रेष्ठी कुत्सितवस्तुनि ॥ ९ ॥
रोगित्वादस्य बोधोऽपि सद्यो मंदायितो यतः ।
यष्टिमुष्टिप्रहारैश्च ताडयेत्ताश्च योषितः ॥ १० ॥
अकस्माद्भ्रांतितो दुष्टमसद्वाक्यं वदेत्कुधीः ।
विटः[1] कश्चिन्नरो रंडे भवतीनां पार्श्वे स्थितः ॥ ११ ॥
पुनः कंचिन्नरं पार्श्वे द्रक्ष्याम्यत्र कदाचन ।
छेत्स्ये नासादिकं रंडे प्राणान् हंतास्मि वः[2] स्फुटम् ॥ १२ ॥
इत्यादिकं वचस्तीक्ष्णं कर्णशूलकरं वदन् ।
पापजातः स बीभत्सो रौद्रध्यानपरायणः ॥ १३ ॥
दर्शं दर्शमदृश्यं तं जातास्ता दुःखपीडिताः ।
धिग्जीवनं वरं मृत्युरतश्चेद्दैवयोगतः ॥ १४ ॥
चिंतयंत्योऽतिभीतास्ता यात्रार्थं निर्ययुर्गृहात् ।
यत्रारण्ये महानस्ति वासुपूज्यजिनालयः ॥ १५ ॥
आलोक्य चैत्यबिम्बानि चतस्रोऽप्यगमन्मुदम् ।
अस्माकं सफलं जन्म जातमद्य कृतार्थताम् ॥ १६ ॥
ततो मुनिमुखात्ताभिर्धर्माख्यानं श्रुतं महत् ।
ज्ञातधर्मफलाभिस्तु संगृहीतं गृहिव्रतम् ॥ १७ ॥
व्रतमादाय ताभिस्तु स्थितं सद्मनि यावता ।
सूरसेनो महापापो यावताऽगाद्यमालयम् ॥ १८ ॥
ततः परं तत्सर्वस्वं गृहीत्वाशु जिनालयः ।
तुंगः कारापितस्ताभिः केवलं धर्मबुद्धितः ॥ १९ ॥

---

१ जारः । २ युष्माकं ।

चतस्रोऽपि ततस्तूर्णं निर्विण्णा भवभीतितः ।
आर्यिकाव्रतमादाय निर्ययुः सद्मबन्धनात् ॥ २० ॥
यथागमं तपस्तीव्रं संतपुस्ताः शुभाशयाः ।
संन्यासे मरणं कृत्वा देव्यो ब्रह्मोत्तरेऽभवन् ॥ २१ ॥
विद्युन्मालिसुरस्यास्य संजातास्ता इमा नृप ।
भार्याः प्राणसमा रम्या नानासौख्याब्धिमध्यगाः ॥ २२ ॥
श्रुत्वा धर्मकथामेनां श्रेणिको मुदमादधौ ।
मनो व्यापारयामास पुनः प्रष्टुं समीहितम् ॥ २३ ॥
स्वामिन्नद्य त्वया प्रोक्तं विद्युन्मालिसुरस्य यत् ।
विसमं विद्युच्चरेणासौ तपस्तीव्रं ग्रहीष्यति ॥ २४ ॥
कोऽस्ति विद्युच्चरो नाम्ना कुत्रत्यो किंकुलो महान् ।
कथं चौरत्वमापन्नो भविष्यति कथं मुनिः ॥ २५ ॥
एतद्वृत्तं कृपां कृत्वा ब्रूहि प्रश्नविदां वरः ।
सव्यासं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तो धर्मफलाप्तये ॥ २६ ॥
ततोऽवादीज्जिनेशानो कृपावारिपयोनिधिः ।
शृणु श्रेणिक धर्मस्य माहात्म्यं परमाद्भुतम् ॥ २७ ॥
अथात्र मगधे देशे विद्यते नगरं महत् ।
हस्तिनागपुरं नाम्ना स्वर्लोकैकपुरोपमम् ॥ २८ ॥
तत्रास्ति संवरो नाम्ना भूपो दोर्दंडमंडितः ।
तस्य भार्यास्ति श्रीषेणा कामयष्टिः प्रियंवदा ॥ २९ ॥
तयोः सूनुरभून्नाम्ना विद्वान् विद्युच्चरो नृप ।
शिक्षिताः सकला विद्या वर्द्धमानकुमारतः ॥ ३० ॥

यद्यद्दृष्टश्रुतं वाथ ज्ञानं विज्ञानमेकशः ।
तच्छिक्षितं क्षणादेव ज्ञातपूर्वमिवामुना[1] ॥ ३१ ॥
शस्त्रशास्त्रादिविद्यासु दुष्करं नास्य किंचन ।
दृष्टश्रुतानुभूतत्वादभ्यासं कुर्वतोऽनिशम् ॥ ३२ ॥
अन्येद्युश्चिंतयामास दुर्दैवाद्दुष्टबुद्धिमान् ।
शिक्षितं न मया चौर्यमेकं सर्वगुणास्पदम् ॥ ३३ ॥
निधार्येति स्वचित्तेऽसौ रात्रौ गत्वा पितुर्गृहे ।
शनैः शनैः प्रविश्याशु तत्र तस्करवात्क्रियः ॥ ३४ ॥
ततश्चादाय रत्नानि महार्घाणि मनीषया ।
गच्छन् दृष्टः स केनापि रत्नोद्द्योतैरनल्पकैः ॥ ३५ ॥
प्रातस्तेनेह तत्सर्वं भूपस्याग्रे निवेदितम् ।
श्रुत्वा भूपस्ततोऽवादीद्वेगादानीयतां स हि ॥ ३६ ॥
इत्याकर्ण्य स्वधावद्भिरानीतोऽपि निजालयात् ।
धैर्यवान् वीरकर्मासौ सन्मुखं स्थितवानितः ॥ ३७ ॥
नीतो बोधयितुं राज्ञा साम्नैव सौम्यया गिरा ।
पुत्र चौर्यमिदं निंद्यं कृतं कस्य कृते त्वया ॥ ३८ ॥
भोगान् भोक्तुं सकामोऽसि यदि त्वं मम का क्षतिः ।
यथेप्सितान् भोगान् भुंक्ष्व योषिद्वृंदकंदनादिवान्(कदंबकैः) ३९ ।
यत्किंचिद्दुर्लभं लोके तत्सुलभं ममालये ।
यत्किंचिद्रोचते तुभ्यं तद्गृहाण समक्षतः ॥ ४० ॥
इदं चौर्यं महानिंद्यमिहामुत्र च दुःखदम् ।
मा कुरुष्व महाप्राज्ञ सर्वसंतापकारणम् ॥ ४१ ॥

---

१ पूर्वं ज्ञातमिव ।

श्रुत्वापीदं वचस्तथ्यं नासावुपशमं ययौ ।
शर्करादि यथा पथ्यं सज्वराय न रोचते ॥ ४२ ॥
ततः प्रत्युत्तरं वाक्यं ददौ चौर्यरतः शठः ।
अहो चौर्यस्य राजस्य भेदोऽस्त्यत्र महानिति ॥ ४३ ॥
राज्यस्य प्रमिता लक्ष्मीः चौर्यस्याप्रमिता च सा ।
तुल्यता न तयोरासीत्ततो ग्राह्यो गुणस्त्वयं ॥ ४४ ॥
अवधीय[1] पितुः सूक्तिं कृत्याकृत्यासमीक्षकः ।
अगात्पराङ्मुखो दुष्टो नाम्ना राजगृहं पुरम् ॥ ४५ ॥
तत्रास्ति सस्मरस्मेरा वेश्या कामलताह्वयया ।
आसक्तोऽसौ तया सार्धं भोगान् भुंक्ते मनीषितान ॥ ४६ ॥
चौर्येणार्जितं द्रव्यमनायासादहर्निशम् ।
यथाकामं स वेश्यायै ददाति स्म स्मरातुरः ॥ ४७ ॥
इति प्रश्नोत्तरं प्राप्य निर्गतं भगवन्मुखात् ।
तुतोष श्रेणिको भूपो भूयः प्रश्नोद्यतोऽभवत् ॥ ४८ ॥
भगवन यत्त्वया प्रोक्तं विद्युन्मालिकथानकम् ।
सप्तमे वासरे स्वर्गादयमेष्यति भूतले ॥ ४९ ॥
कस्य पुण्यवतः सद्म जन्मना भूषयिष्यति ।
पृष्टः कुर्वन् समाधानं जगाद जगतांपतिः ॥ ५० ॥
अत्र राजगृहे राजन् राजते श्रीसमान्वितः ।
अर्हद्दासाभिधः श्रेष्ठी जैनधर्मैकतत्परः ॥ ५१ ॥
तस्य भार्या सुरूपाढ्या नाम्ना जिनमती स्मृता ।
धर्ममूर्तिर्महासाध्वी सद्भिर्येव सुखावहा ॥ ५२ ॥

१ असत्कृत्य ।

तस्या गर्भे महापूते पुण्यादवतरिष्यति ।
सम्यग्दर्शनपूतात्मा मुक्तिभर्ता भविष्यति ॥ ५३ ॥
अथ कश्चिन्महायक्षो ननर्तानंदनिर्भरः ।
जिनवाक्यसुधापूरैः परिप्लावितसत्तनुः ॥ ५४ ॥
जय नाथ जय स्वामिन् जय केवललोचन ।
त्वत्प्रसादात्कृतार्थोऽस्मि प्राप्तं पुण्यफलं मया ॥ ५५ ॥
धन्यमेतत्कुलं श्लाघ्यं यत्रोत्पत्स्यति केवली ।
भानुमानिव भात्यस्मिन् केवलज्ञानभानुभिः ॥ ५६ ॥
स एव पावनो देशस्तदेव नगरं शुभम् ।
तत्कुलं तद्गृहं पूतं यत्र धर्मपरंपरा ॥ ५७ ॥
नर्तयित्वाथ यक्षोऽसौ स्वासने स्थितवान् मुदा ।
श्रेणिकः पृच्छति स्मैतत्किमिदं ब्रूहि भो विभो ॥ ५८ ॥
व्याजहार गणाधीशो राजानं श्रेणिकं प्रति ।
नगरेऽत्रैव भो राजन्नासीद्वणिक्सुतो वरः ॥ ५९ ॥
धनदत्तो नाम्ना सौम्यो लक्ष्म्या श्रीधनदोपमः ।
तस्य भार्या समाख्याता नाम्ना गोत्रमती शुभा ॥ ६० ॥
सहायाक्ष्या(दक्ष)सौख्यस्य केवलं श्रेयसोऽपि च ।
ज्येष्ठः पुत्रस्तयोरासीदर्हद्दासोऽतिबुद्धिमान् ॥ ६१ ॥
ततः स्याच्चलधीमांश्च जिनदास इतीरितः ।
.... ॥ ६२ ॥
तयोर्मध्ये कनिष्ठो यो जिनदासः समाख्यया ।
दुर्दैवयोगतो नूनं स्यात्सर्वव्यसनातुरः ॥ ६३ ॥

पलंमत्ति पिबेन्मद्यं सेवते गणिकां कुधीः ।
द्यूतं क्रीडति पापात्मा निंद्यकर्म करोति च ॥ ६४ ॥
कुर्याच्चौर्यादिकं सर्वमिहामुत्र च दुःखदम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन स स्यात्सर्वक्रियामयः ॥ ६५ ॥
अहो प्रसिद्धिर्लोकेऽस्मिन् द्यूताद्धर्मसुतादयः ।
एकस्माद्व्यसनाद्भ्रष्टाः प्राप्ता दुःखपरंपराम् ॥ ६६ ॥
अयं सर्वैः समग्रैस्तु व्यसनैर्लोलमानसः ।
अद्य श्वो वा परश्वश्च ध्रुवं दुःखे पतिष्यति ॥ ६७ ॥
एवं पौरजनाः सर्वे जानन्तीह परस्परम् ।
दुर्वचनं वदंति ज्ञास्तस्य शिक्षादिहेतवे ॥ ६८ ॥
अथान्येद्युर्दिने तेन क्रीडता द्यूतमंजसा ।
हारितं कांचनं तावद्यावन्नास्ति स्वसद्मनि ॥ ६९ ॥
ततस्तेन गृहीतोऽसौ द्यूतकारेण शत्रुणा ।
त्वरितं देहि मे द्रव्यं यत्त्वयाद्य पराजितम् ॥ ७० ॥
ततोऽसौ निष्ठुरालापैराकुलोऽभूत्पराजितः ।
वाक्यमुत्तरमात्रं स उक्तवानसमंजसम् ॥ ७१ ॥
इहाद्य कांचनं न स्यात्प्राणान्तेऽपि च सर्वथा ।
वधबन्धादिकं सर्वमनिष्टं कुरु सर्वशः ॥ ७२ ॥
शृण्वन् जिनदासेनोक्तं क्षत्रियः कुपितोऽभवत् ।
गृह्णामीह महत्स्वर्णं प्राणानथ ते तत्कृते ॥ ७३ ॥

१ मांसं । २ द्यूतं क्रीडति इति द्यूतकारः । ३ हारितं । ४ असमीक्षितं । ५ तदर्थं । स्वर्णार्थमित्यर्थः ।

नान्या गतिर्भवित्रीह जानीहि त्वं सुनिश्चितम् ।
परस्परं विवादाद्वै जातः कोलाहलो महान् ॥ ७४ ॥
दुष्टेन तेन रुष्टेन क्षत्रियेण प्रकोपतः ।
तस्य पापोदयाच्चैव जिनदासोऽसिना हतः ॥ ७५ ॥
मूर्च्छितं तं समालोक्य सापराधात्पलायितः ।
ततः पौरजनाः सर्वे द्रष्टुं तत्रागताः क्षणात् ॥ ७६ ॥
अर्हद्दासोऽपि तत्रैत्य दृष्ट्वा तं भ्रातरं निजम् ।
क्षणादाकुलचित्तोऽपि निन्ये यत्नात्स्वसद्मनि ॥ ७७ ॥
आनीतः शस्त्रवैद्योऽपि तच्चिकित्सादिहेतवे ।
तथापि न समाधानं भवेदस्य दुरात्मनः ॥ ७८ ॥
उदिते दुष्टकर्मारौ प्रतीकारो वृथाखिलः ।
निसर्गतः खले पुंसि कृताप्युपकृतिर्यथा ॥ ७९ ॥
तं प्रतिबोधयानेतुं धर्मवाक्पद्धतिं वदन् ।
अर्हद्दासश्च तत्प्रीत्या जैनसूत्रमवीवदत् ॥ ८० ॥
भ्रातश्चास्मिन् भवावर्ते जीवो मिथ्यामतिः शठः ।
बंभ्रमीति महादुःखं परावर्तैरनंतशः ॥ ८१ ॥
मिथ्यात्वं विषया योगाः कषाया बन्धहेतवः ।
तत्र द्यूतादिकं कर्म लोकद्वयेऽपि गर्हितम् ॥ ८२ ॥
द्यूतादिव्यसनार्त्तानां नूनं स्याद्वधबंधनम् ।
इहामुत्र महातीव्रं कर्मासातं समाश्रयेत् ॥ ८३ ॥
तत्त्वयाध्यक्षतो भ्रातः प्राप्तं द्यूतफलं महत् ।
नूनं विद्धि परत्रापि तीव्रदुःखं करिष्यति ॥ ८४ ॥

अर्हद्दासोपदेशं हि श्रुत्वाभूद्भवभीरुकः ।
रुरुचे धर्मपीयूषं जिनदासो गदातुरः ॥ ८५ ॥
अर्हद्दासं समुद्दिश्य जिनदासेनोक्तं वचः ।
नूनं यदनिष्टं कर्म तत्सर्वं मामकात् कृतम् ॥ ८६ ॥
गतोऽयं मे वृथा कालो मग्नस्य व्यसनार्णवे ।
अद्य मां कृपया भ्रातः सापराधं समुद्धर ॥ ८७ ॥
इह जन्मनि बन्धुस्त्वं यथा सद्धितकारकः ।
परलोकेऽपि धर्मात्मन् सहायो भव तद्यथा ॥ ८८ ॥
अर्हद्दासोऽप्यदः श्रुत्वा तद्वचः करुणास्पदम् ।
साधने धर्मकार्यस्य मतिं धत्ते स्म शुद्धधीः ॥ ८९ ॥
अणुव्रतानि तस्यातो ग्राहितानि मनीषिणा ।
संन्यासेन ततो मृत्वा यक्षोऽभूत्पुण्यपाकतः ॥ ९० ॥
नर्त्तति स्म ततश्चासौ निशम्यास्मद्वचो नृप ।
अंत्यकेवलिनो जन्म मद्वंशे तद्भविष्यति ॥ ९१ ॥
अर्हद्दासगृहे पुत्रो निःसंदेहं भविष्यति ।
विद्युन्मालिचरः सोऽयं जम्बूनामांऽत्यकेवली ॥ ९२ ॥
ततश्चापि परं भूप जम्बूस्वामिकथानकम् ।
कथयिष्यंति बुद्धीन्द्राः सत्पुण्यार्जनहेतवे ॥ ९३ ॥
श्रुत्वा श्रीभगवद्वाक्यं मुदितः श्रेणिको नृपः ।
पप्रच्छाभीप्सितं सर्वं यल्लोकेऽस्मिन् चराचरम् ॥ ९४ ॥
स्वालयं गंतुकामोऽसौ प्रारब्धं स्तवनं ततः ।
गद्यपद्यादिसद्वाक्यैर्जगावर्हद्गुणानपि ॥ ९५ ॥

जय देव महादेव केवलज्ञानलोचन ।
कृपावारिनिधे नंद सर्वभूतहितंकर ॥ ९६ ॥
जय देवाधिदेव त्वं घातिकर्मविनाशकृत् ।
मोहमल्लोपमल्लस्त्वं धर्मतीर्थप्रवर्तकः ॥ ९७ ॥
यथा त्वं शरणं स्वामिन्नस्ति त्रिजगतामपि ।
तथा मे शरणं भूयाद्यावत्स्यां त्वत्समो विभो ॥ ९८ ॥
इति स्तुत्वा जगामासौ श्रेणिको नगरं प्रति ।
कुर्वन् जिनोदितं धर्मं कर्ममर्म्मनिबर्हणम् ॥ ९९ ॥
राज्यं कुर्वति भूपाले स्थिते कालोऽगमत्कियान् ।
अर्हद्दासाभिधः श्रेष्ठी राज्यकार्यधुरंधरः ॥ १०० ॥
भार्या जिनमती तस्य सीतेव शीलशालिनी ।
परं नालंकृता रूपैर्गुणैरपि विभूषिता ॥ १०१ ॥
तौ दंपती मिथः स्यातां स्नेहार्द्रौ सुखसंस्थितौ ।
भोगाब्धिमध्यगौ चापि जैनधर्मपरायणौ ॥ १०२ ॥
अथान्येद्युः सुखं सुप्ता सार्हद्दासस्य भामिनी ।
निशायाः पश्चिमे भागे संददर्श स्वप्नावलीम् ॥ १०३ ॥
पश्यति स्म शुभं पूर्वं जम्बूफलकदम्बकम् ।
भ्रमरालीसमालीढं संशोभि नयनप्रियम् ॥ १०४ ॥
निर्धूमां ज्वलनज्वालां शालिक्षेत्रं च शाड्वलम् ।
सारविंदं सरो पश्यन् सवेलं च पयोनिधिम् ॥ १०५ ॥
यथाद्राक्षीन्निशि स्वप्नान्प्रातो भर्त्रे न्यवेदयत् ।
आकर्ण्य श्रीमतीप्रोक्तमर्हद्दासोऽभिनंदत ॥ १०६ ॥

यथानंदरवः केकी नंदति स्म घनागमे ।
अयं तूर्णं समुत्थाय नमस्कुर्वन् पुनः पुनः ॥ १०७ ॥
प्रष्टुं स्वप्नफलं चासौ प्रविष्टो जिनमंदिरे ।
सकलत्रो जिनेशादीनर्चयित्वा विशुद्धधीः ॥ १०८ ॥
प्रणम्य च मुनीशानं पृच्छति स्म विशांपतिः ।
स्वामिन्नद्य निशाभागे पश्चिमे मम भार्यया ॥ १०९ ॥
अनया सुखसाद्दृष्टा काचित्स्वप्नावली शुभा ।
तस्याः फलं यथाम्नायं ब्रूहि सज्ज्ञानलोचन ॥ ११० ॥
अथोवाच मुनिः स्वप्नफलान्यस्मान्ययथच्छिदे (?) ।
....॥ १११ ॥
कामदेवसमः सूनुः स्याज्जम्बूफलदर्शनात् ।
स चालोकात्प्रदीपाग्नेः संधुक्ष्यति कर्मेन्धनम् ॥ ११२
शालिवप्रेक्षणाच्चासौ भविष्यति लक्ष्मीपतिः ।
स्यात्कमलाकरालोकाद्भव्यपापौघदाघहा ॥ ११३ ॥
पाथोधिदर्शनाच्छ्रेष्ठिन् भवाब्धिमुत्तरिष्यति ।
भव्यानां सुखसंप्राप्त्यै वर्षिष्यति धर्मामृतम् ॥ ११४ ॥
श्रुत्वा धर्मफलान्युच्चैर्भूत्वा सानन्दमानसः ।
मुनिवृन्दं त्रिधा नत्वा श्रेष्ठी स्वगृहमागतः ॥ ११५ ॥
अनंतरं दिवश्च्युत्वा विद्युन्माली सुरोत्तमः ।
गर्भाधाने स संक्रान्तः श्रीमत्याः पूर्वपुण्यतः ॥ ११६ ॥
ततस्तद्दिनमारभ्य सासीज्जिनमती तदा ।
सालसांगी च मृद्वंगी सस्वेदा नीलचूचुका[1] ॥ ११७ ॥

---

१ चूचुकं तु कुचाग्रं स्यात् इत्यमरः ।

आपांडुस्तनगंडेषु शैथिल्यान्मृदुभाषिणी ॥
तथापि शुशुभेऽत्यर्थं रत्नगर्भावनिर्यथा ॥ ११८ ॥
त्रिवली भंगमायाता तस्या गर्भे स्थिते शिशौ ।
चरमांगिनि संबाधावर्जितायास्तदोदरे ॥ ११९ ॥
अथास्या दोहदो जातः शुभः सर्वोऽपि शर्मदः ।
देवशास्त्रगुरूणां हि पूजायां प्रीतिरुत्तमा ॥ १२० ॥
जिनबिम्बप्रतिष्ठायां निष्ठायां पुण्यकर्मणः ।
जीर्णचैत्यालयोद्धारे दाने चैव चतुर्विधे ॥ १२१ ॥
तं सर्वं पूरयामास श्रेष्ठी मुदितमानसः ।
कृतोत्साहः स लक्ष्मीवान् स्पृहालुः पुत्रदर्शने ॥ १२२ ॥
नवमासानतिक्रम्य सुखं सा सुषुवे सुतम् ।
तेजस्विनं महापूतं यथा प्राची तमोरिपुम् ॥ १२३ ॥
उत्तमे फाल्गुने मासे सितपक्षे शुभे दिने ।
रोहिणीसंस्थिते चन्द्रे तथोषसि विनिर्मले ॥ १२४ ॥
जन्मोत्सवः कृतस्तेन श्रेष्ठिनानंदशालिना ।
बन्धुवर्गैरशेषैश्च तथा पौरजनैः सह ॥ १२५ ॥
नेदुर्दुंदुभयः स्वर्गे पुष्पवृष्टिरभूत्तदा ।
ववुर्वाताः सुशीताश्च सुगंधाः पुष्परेणुभिः ॥ १२६ ॥
सर्वत्रापि चतुर्दिक्षु जयकारमहाध्वनिः ।
श्रूयते परमानंदकारणं करणप्रियः ॥ १२७ ॥
जगुर्गीतं सुगीतज्ञाः कामिन्यो ललितभ्रुवः ।
हर्षान्नृत्यं प्रकुर्वन्ति कुंकुमारुणसाटकाः ॥ १२८ ॥

---

१ कपोलेषु । २ सूर्यम् ।

दुकूलैर्मणिमाणिक्यैर्यच्छुशुभे गृहांगणम् ।
तत्केन वर्णितुं शक्यं कविनापि महौजसा ॥ १२९ ॥
दानं प्रयच्छतस्तस्य श्रेष्ठिनो न धनक्षयः ।
दरिद्रो न च लक्ष्म्यां तत्परं पात्रे दरिद्रता ॥ १३० ॥
इति कल्याणमालाभिर्लालितः सत्कृतः शुभः ।
जम्बूस्वामीति नाम्नापि ख्यातं पित्रा सबन्धुना ॥ १३१ ॥
धात्र्यो नियोजितास्तस्य श्रेष्ठिना वृद्धिहेतवे ।
मज्जने मण्डने चास्य संस्कारे क्रीडनेऽपि च ॥ १३२ ॥
ततोऽसौ स्मितमातन्वन्संस्पर्शन् मणिभूमिषु ।
पित्रोर्मुदं ततानाद्ये यस्याद्भुतविचेष्टितः ॥ १३३ ॥
जगदानंदि नेत्राणामुत्सवं पदमूर्जितम् ।
कलोज्ज्वलं तदस्यासीच्छैशवं शशिनो यथा ॥ १३४ ॥
मुग्धस्मितमभूदस्य मुखेन्दौ चंद्रिकामलम् ।
तेन पित्रोर्मनस्तोषजलधिर्वर्धतेतराम् ॥ १३५ ॥
पीठबन्धः सरस्वत्या लक्ष्म्या हसितविभ्रमः ।
कीर्तिवल्ल्या विकासोऽस्य मुखे मुग्धास्मयोऽभवत् ॥ १३६ ॥
स्खलत्पदं शनैरिन्द्रनीलभूमिषु संचरन् ।
स रेजे वसुधां रक्तैरब्जैरुपहरन्निव ॥ १३७ ॥
रत्नपांशुषु चिक्रीड स वयोनिकरं समम् ।
पित्रोर्मनसि संतोषमातन्वन् ललिताकृतिः ॥ १३८ ॥
प्रजानां दधदानन्दं गुणैराह्लादिभिर्निजैः ।
कीर्तिज्योत्स्नापरीतांगः स बभौ बालचंद्रमाः ॥ १३९ ॥

बालावस्थामतीतस्य तस्याभूद्रुचिरं वयः ।
कौमारं देवनाथानामर्चितस्य महौजसः ॥ १४० ॥

वपुः कांतं प्रिया वाणी मधुरं तस्य वीक्षितम् ।
जगतः प्रीतिमातेनुः सस्मितं च प्रजल्पितम् ॥ १४१ ॥

कलाश्च सकलास्तस्य वृद्धौ वृद्धिमुपाययुः ।
इंदोरिव जगच्चेतो नंदनस्य जगत्पतेः ॥ १४२ ॥

विश्वविश्वेश्वरस्यास्य विद्याः परिणताः स्वयम् ।
ननु जन्मान्तराभ्यासः स्मृतिं पुष्णाति पुष्कलाम् ॥ १४३ ॥

कलासु कौशलं श्लाघ्यं विश्वविद्यासु पाटवम् ।
क्रियासु कर्मठत्वं च स भेजे शिक्षया विना ॥ १४४ ॥

वाङ्मयं सकलं तस्य प्रत्यक्षं वा प्रभोरभूत् ।
येन विश्वस्य लोकस्य वाचस्पत्यादभूद्गुरुः ॥ १४५ ॥

यथा यथास्य वर्धंते गुणांशा वपुषा समम् ।
तथा तथास्य ज(य)ततो बंधुता चागमन्मुदम् ॥ १४६ ॥

परमायुरथास्याभूच्चरमं बिभ्रतो वपुः ।
आरोग्यं तत्र सौभाग्यं सौंदर्यं च विशेषतः ॥ १४७ ॥

कदाचिल्लिपिसंख्यानं गंधर्वादिकलागमम् ।
अभ्यस्तपूर्वमभ्यस्य स्वयमभ्यासयन् परान् ॥ १४८ ॥

छंदोविचित्यलंकारप्रस्तारादिविवेचनैः ।
कदाचिद्भावयन् गोष्ठीं चित्राद्यैश्च कलागमैः ॥ १४९ ॥

कदाचित्पदगोष्ठीभिः काव्यगोष्ठीभिरन्यदा ।
वावदूकैः समं कैश्चिज्जल्पगोष्ठीभिरन्यदा ॥ १५० ॥

कर्हिचिद्गीतगोष्ठीभिर्नृत्यगोष्ठीभिरेकदा ।
कदाचिद्वाद्यगोष्ठीभिर्वीणागोष्ठीभिरन्यदा ॥ १५१ ॥
कर्हिचिद्बर्हिरूपेण नटतो नटचेटकान्[1] ।
नाटयन् करतालेन लयमार्गानुयायिनः ॥ १५२ ॥
कदाचित्फुल्लकुन्देन्दुमन्दाकिन्या[2]श्छटामयम् ।
गंधर्वैश्च समुद्गीतं स्वं समाकर्णयन् यशः ॥ १५३ ॥
कदाचिद्दीर्घिकांभःसु समं वयःकुमारकैः ।
जलक्रीडाविनोदेन रममाणः ससंपदम् ॥ १५४ ॥
सारवं जलमासाद्य सारवं जलकूजितैः ।
तारवैर्यंत्रकैः क्रीडन् जलास्फालकृतारवैः ॥ १५५ ॥
कदाचिन्नंदनस्पर्द्धितरुशोभाचिते वने ।
वनक्रीडां समातन्वन् वयस्यैरन्वितः शिशुः ॥ १५६ ॥
इति कालोचितान् क्रीडा विनोदांश्च स निर्विशन् ।
सुखं स्यादष्टवर्षीयो जम्बूस्वामी कुमारकः ॥ १५७ ॥
इति भुवनपतीनामर्चनीयोऽभिगम्यः
सकलगुणमणीनामाकरः पूर्णमूर्तिः
सह नृपतिकुमारैर्निर्विशन्कामभोगा–
नरमत चिरमस्मिन्पुण्यगेहे स देवः ॥ १५८ ॥
तारालीतरलां दधन् सुरुचिरां वक्षस्थलासंगिनीम्
लक्ष्म्या दोलनवल्लरीमिव ततां तां हारयष्टिं पृथु ।
ज्योत्स्नामन्यमथांशुकं परिदधत्कांचीकलापान्वितम्
रेजेऽसौ नृपदारकैरुडुसमैः क्रीडन् यथेन्दुः शिशुः ॥ १५९ ॥

१ दासान् । २ गंगायाः ।

यस्मात्पुण्यविपाकतो दिवि सुरा भुंजन्ति सौख्यं परं
यस्माच्चात्र महीतले नरवरास्तीर्थंकराश्चक्रिणः।
जायन्ते बलभद्रकेशवमुखास्तद्वैरिणो विष्णवः
सेव्यो धर्ममहातरुः सुकृतिभिर्यत्नात्किमन्यैः परैः ॥ १६० ॥

इतिश्री जम्बूस्वामिचरित्रे भगवच्छ्रीपश्चिमतीर्थंकरोपदशानुसरित-
स्याद्वादानवद्यगद्यविशारदपण्डितराजमल्लविरचिते
साधुपासातनयश्रीसाधुटोडरसमभ्यर्थिते
जम्बूस्वामिजातकर्मोत्सवशैशवविनोदवर्णनो
नाम पंचमः सर्गः।

अथ षष्ठः सर्गः

जीयात्स टोडरः साधुर्यस्य कीर्तिः समुज्ज्वला ।
विस्तृता भुवि पूर्णेन्दोरिव ज्योत्स्ना सुशारदी ॥ १ ॥

इत्याशीर्वादः ।

सुविधिं सुविधातारं धर्मतीर्थस्य नायकम् ।
शीतलं तमहं वंदे यस्य वाचः सुशीतलाः ॥ १ ॥

अथास्य यौवने पूर्णे वपुरासीन्मनोहरम् ।
प्रकृत्येव शशी........किं पुनः शरदागमे ॥ २ ॥

निष्टप्तकनकच्छायं कामरूपं निरामयम् ।
क्षीरोत्थक्षतजं दिव्यं.....................॥ ३ ॥

........परां कोटिं दधानं सौरभस्य च ।
अष्टोत्तरसहस्रेण लक्षणानामलं........ ॥ ४ ॥

....
...........द्यत्वं भेजे रुक्मादिसच्छविम् ॥ ५ ॥

यत्र वज्र...........................
............हननमीशितु ....॥ ६ ॥

त्रिदोषजमहातंका नास्य देहेन्य................
.........................मरुरगोचरः ॥ ७ ॥

तदस्य रुरुचे गात्रं परमौदारिकाह्वयम् ।
महाभ्युदयनिःश्रेय........मूलकारणम् ॥ ८ ॥

मानोन्मानप्रमाणानामन्यूनाधिकतां श्रितम् ।
संस्थानमाद्यमस्यासीच्चतुरस्रं समंततः ॥ ९ ॥
तदीयरूपलावण्ययौवनादिगुणोद्गमैः ।
आकृष्टा जनतानेत्रभृंगा नान्यत्र रेमिरे ॥ १० ॥
आलोक्य तस्य सौंदर्यं सर्वाः पौरजनस्त्रियः ।
विद्धा मन्मथकाण्डेन बभूवुः स्मरपीडिताः ॥ ११ ॥
काचित्तद्वदनं द्रष्टुं वीक्ष्यमाणा मुहुर्मुहुः ।
व्रीडयाकुलचित्ता स्यान्मुग्धा कामातुरा सती ॥ १२ ॥
मुग्धावस्थापि तारुण्यान्नवयौवनशालिनी ।
काचित्कामाग्निना दग्धा निःश्वसंती रिरंसया[१] ॥ १३ ॥
काचित्प्रौढा रसज्ञा च पण्डिता शास्त्रदर्शने ।
स्मरती तद्गुणानेव स्थिता चित्रार्पितेव च ॥ १४ ॥
काचिद्वातायने स्थित्वा गृहकार्यपराङ्मुखा ।
प्राप्तुं तद्दर्शनं नूनं साभिलाषानुलक्षिता ॥ १५ ॥
काचित्किंचिच्छलं नीत्वा निःसरन्ती स्वसद्मनः ।
अटति स्म महावीथ्यां यत्र तस्य गमागमः ॥ १६ ॥
काचित्तद्दर्शनायालं सोत्तालापि विलम्बिता ।
कार्यध्वंसभयादेव चिंतति स्मोत्तरं पथि ॥ १७ ॥
काचिज्जन्मांतरेऽपीह भर्तारं तत्समं परम् ।
इच्छति स्म निदानेन सकामाक्रिययानया ॥ १८ ॥
इत्यादिकास्तदालोकाद्विरहव्याकुलीकृताः ।
ताः सर्वा नामतोऽप्यत्र वर्णितुं न क्षमः कविः ॥ १९ ॥

१ रंतुं इच्छा रिरंसा तया ।

सुपुत्रो हि वरं चैको यः स्यात्स्वकुलदीपकः ।
न च भद्रं कुपुत्राणां सहस्राणि कुलद्विषाम् ॥ २० ॥
केचित्तत्र विशांनाथाः श्रुत्वा तद्गुणसंपदः ।
दातुकामाः स्वसात्मीयां कन्यां सोत्कंठिताः स्वयम् ॥ २१ ॥
एकस्तत्र विशांनाथो वसेच्छ्रीजिनभाक्तिकः ।
श्रेष्ठी सागरदत्तोऽस्य भार्या पद्मावती शुभा ॥ २२ ॥
दुहिता स्यात्तयोर्नाम्ना पद्मश्रीश्च पद्मानना ।
दिव्यसौंदर्यवर्यास्ति नवतारुण्यशालिनी ॥ २३ ॥
धनदत्तोऽपरस्तत्र वर्तते च वणिग्वरः ॥
भार्याकनकमालाख्या तस्यासीच्छोभनानना ॥ २४ ॥
नाम्ना कनकश्रीः पुत्री तयोरासीत्कलस्वना ।
तप्तसौवर्णवर्णाभा साकर्णायतचक्षुषी ॥ २५ ॥
आढ्यो वैश्रवणः श्रेष्ठी तत्रासीद्वणिजां पतिः ।
कांता विनयमालास्य लब्धान्वर्थाभिधानका ॥ २६ ॥
आत्मजासीत्तयोर्नाम्ना विनयश्रीरितीरिता ।
कामध्वजेव तन्वंगी सर्वलक्ष्मविभूषिता ॥ २७ ॥
तुर्यस्तत्र वणिग्दत्तो विद्यते श्रीसमन्वितः ॥
स्याद्विनयमती तस्य भार्या साध्वी पतिव्रता ॥ २८ ॥
रूपश्रीरिति विख्याता तयोरासीत्सुता वरा ।
पक्वबिम्बाधरा तन्वी पृथुपीनपयोधरा ॥ २९ ॥
अपि ताः स्युश्चतस्रोऽपि तरुण्यो नवयौवनाः ।
मन्यमाना इवाज्ञां प्राग्गिष्यतः स्मरभूपतेः ॥ ३० ॥

---

२ वरमेको गुणी पुत्रो न च मूर्खशतान्यपि । इति हितोपदेशे । २ नृपतयः ।

ततोऽपि चिंतितं तैश्च वणिग्वर्यैरहोनिशि ।
इत्थमेवोचितं कार्यं कर्तव्यमथ सर्वथा ॥ ३१ ॥
चत्वारोऽपि परामृश्य ततः शीघ्रं समागताः ।
तद्गृहे दातुकामास्ते कन्यास्ता जम्बुस्वामिने ॥ ३२ ॥
अथैकत्रोपविश्याशु विज्ञप्तं तैः समक्षतः ।
अर्हद्दास अहो श्रेष्ठिन् धन्योऽसि त्वं जगत्त्रये ॥ ३३ ॥
यत्त्वद्गृहे महापूतः पुत्रोऽभूद्विश्वपावनः ।
जम्बूस्वामीति विख्यातस्त्रैलोक्यैकशिखामणिः ॥ ३४ ॥
अथास्मत्प्रार्थनां सार्थां ह्यमोघां कुरु सर्वतः ।
यत्त्वन्नन्दनयोग्या सु(स्यु)रस्मद्गेहे कुमारिकाः ॥ ३५ ॥
दत्तास्ताः श्रेयसेऽस्माभिः कन्याः स्युस्तद्वरोचिताः ।
जम्बूस्वामीति तद्भर्ता वर्धतां प्रीतिरुत्तमा ॥ ३६ ॥
युष्माभिः सममस्माकं मैत्रीभावः परस्परम् ।
यथा भृत्याः क्रयक्रीता वयमाज्ञापरायणाः ॥ ३७ ॥
सप्रश्रयं वचस्तेषां श्रुत्वा श्रेष्ठी मुदं दधन् ।
सस्मितोऽन्तःपुरे गत्वा मतं[2] जिनमतीं प्रति ॥ ३८ ॥
आननंद ततो हर्षान्मंत्रायामंत्रिता सती ।
प्रायः पुत्रोत्सवे नार्यः साभिलाषाः स्वभावतः ॥ ३९ ॥
तद्वचोऽपि ततो नीत्वा श्रेष्ठी तानवदत्सुधीः ।
अहो यथेप्सितं कार्यं कुर्वीध्वं यूयमुत्तमम् ॥ ४० ॥
अथाक्षयतृतीयायां निश्चित्योद्वहमंजसा ।
ससत्कारपुरस्कारा जग्मुस्ते स्वालयं प्रति ॥ ४१ ॥

१ पूर्ण। २ कथितं।

अथ मंगलगीतिः स्यात्पंचानामपि सद्मसु ।
एकत्रीक्रियते नित्यं सामग्री तत्र प्रत्यहम् ॥ ४२ ॥
धनधान्यसुवर्णादिवस्त्रालंकरणानि च ।
नीयन्तेऽथ महामौल्यं दत्वा तैः सावधानकैः ॥ ४३ ॥
सद्ममंडनचित्रादि सर्वं निष्पाद्यते भृशम् ।
परस्परं समाहूतो बन्धुवर्गो यतस्ततः ॥ ४४ ॥
इत्युद्वाहसमारंभे चत्वारोऽपि वणिग्वराः ।
सोत्साहाः सर्वकार्येषु जाताश्चानन्दशालिनः ॥ ४५ ॥
अथ प्रत्यग्रराजेव वसंतः समुपस्थितः ।
छिंदन् जीर्णानि पत्राणि चिन्वन्नभिनवानि च ॥ ४६ ॥
आतपत्रं दधानोऽसौ प्रफुल्लेन्दीवरच्छलात् ।
प्रसूनैः स्वयशोमालां न्यधान्मूर्ध्नि स माधवः ॥ ४७ ॥
कोकिलालापवाचालं वनं यत्र विराजते ।
आम्रकोरकबाणैश्च हन्तुं वा कामिनां कुलम् ॥ ४८ ॥
प्रससार परागोऽपि दिक्षु सर्वासु यत्र वै ।
मन्ये कामठकेनेव क्षिप्तश्चूर्णो विमोहितुम् ॥ ४९ ॥
पुष्पगंधैरिवाकृष्टा पंक्त्या यत्रालिमालिका ।
वने भ्रमति बद्धेव शृंखला स्मरदंतिनः ॥ ५० ॥
मंदानिलो ववौ यत्र सुगन्धश्च सुशीतलः ।
येन मानधनो नूनं माननीभिः पराजितम् ॥ ५१ ॥
यत्राशोकतरू रेजे युतश्चंपकवृक्षकैः ।
स्फुटितस्य हृदो मांसं पिंडो नूनं वियोगिनाम् ॥ ५२ ॥

१ वसंतः ।

रेजुः किंशुकपुष्पाणि यत्रारक्तच्छवीनि च ।
दग्धुं हृद्विरहार्तानां चिताः प्रज्वलिता इव ॥ ५४ ॥
एवंविधे मधौ रेमे कुमारः सह दारकैः ।
रम्यासु वनवीथीषु मधुः कोऽपि (प्य) परस्त्वयम् ॥ ५५ ॥
तत्र पौरजनाश्चापि रमंते सकलत्रकाः ।
कृत्योपवनवीथीषु क्रीडामारभथेप्सितम् ॥ ५६ ॥
पश्चात्स्नानार्थमाजग्मुः सर्वे तत्र जलाशये ।
स्नात्वाथ गंतुकामास्ते बभूवुः स्वालयं प्रति ॥ ५७ ॥
संहतिस्तत्र संजाता मिथःसंलापभाषणैः ।
अश्वं गजमथो यानं वेगादानाय चेतिरे ॥ ५८ ॥
तत्र तूर्यत्रिकध्वानैर्महान्कलकलोऽजनि ।
नदद्दुंदुभिनादैश्च श्रोत्रानंदविधायिभिः ॥ ५९ ॥
श्रुत्वा कोलाहलध्वानं बिभ्यति स्म महागजः ।
विषमसंग्रामसूराख्यः पट्टेभो राजसंमतः ॥ ६० ॥
भित्वासौ शृंखलाबंधमभ्रमत्तत्र क्रोधवान् ।
स्रवद्गंडमदाविष्टभ्रमरालीविराजितः ॥ ६१ ॥
दुरासदो महामत्तो स बभूव निषादिनाम् ।
भीमश्चीत्कारनादैश्च त्रासितः स्वगणाग्रणी ॥ ६२ ॥
अंजनाद्रिसमो दंती चलत्कर्णप्रभंजनः ।
स्थूलकायः कृतांताभो नवाषाढपयोदवत् ॥ ६३ ॥
दंतावलोऽथ दंताग्रैरुत्खनन् पृथिवीतलम् ।
शुंडादंडेन तत्रोच्चैरुद्गिरन् वारिसंचयम् ॥ ६४ ॥

---

१ काल इव ।

उच्चखान वनं सर्वं रौद्रश्चातिविभीषणः ।
उच्छिन्दन् तरुमूलानि मूलोन्मूलमितस्ततः ॥ ६५ ॥
आम्रजम्बूसुजंबीरनारंगानिकरांकितम् ।
तमालतालकंकोलिकदंबालीविराजितम् ॥ ६६ ॥
सल्लकीशालमालाभिः पिचुमन्दैरिहाततम् ।
द्राक्षारुचकखर्जूरदाडिमीफलसंभृतम् ॥ ६७ ॥
जातीचंपककुंदैश्च मुचकुन्दैः सुगंधिभिः ।
पाटलारामवल्लीभिः रमणीयं मनोरमम् ॥ ६८ ॥
नागवल्लीमहावल्लीबिल्वबकुलपल्लवैः ।
पल्लवितं नभोमार्गे श्रीखंडादिदलैरपि ॥ ६९ ॥
एलालवंगजातीनां फलैः पुष्पैरलंकृतम् ।
राजादनीनालिकेरपूगीफलसमन्वितम् ॥ ७० ॥
केकिकेकारवाकीर्णं कोकिलाकलनिस्वनः ।
किमत्र बहुनोक्तेन श्लाघ्यं यत्त्रिदशैरपि ॥ ७१ ॥
तत्सर्वं हेलया दन्ती बभञ्जेभपतिः क्षणात् ।
यथा पुण्यतरुं लोभैर्विषयैर्मलिनं मनः ॥ ७२ ॥
यतस्ततः पलायंतस्तत्र केचिद्भयातुराः ।
कातरत्वं समादाय न पुनः सन्मुखं ययुः ॥ ७३ ॥
केचिद्ग्रामापरित्राणे पर्याकुलितचेतसः ।
यत्नाधैर्यं समालम्ब्य सावधानाः पदं दधुः ॥ ७४ ॥
भाव्यमद्य किमत्राहो चिंतयन्तो भटा अपि ।
न क्षमाः सन्मुखं गन्तुं बन्धनायाशु दंतिनः ॥ ७५ ॥

१ निम्बैः ।

गौरमास्यं सुयोद्धारः पश्यंति स्म परं परम् ।
विमनस्का बभुस्तत्र निरुत्साहा निरुद्यमाः ॥ ७६ ॥
श्रेणिकस्तत्र भूपालो विद्यते वै समक्षतः ।
न शशाक ग्रहीतुं तं सोऽपि मंदाक्षतां गतः ॥ ७७ ॥
जम्बूस्वामिकुमारोऽसौ महावीर्यो महाबलः ।
तस्थौ तत्र यथास्थाने न चचाल ततो मनाक् ॥ ७८ ॥
तृणाय मन्यमानः सन् तं तथा मत्तदंतिनम् ।
निर्भीको धारयामास पुच्छमाकृष्य धीरधीः ॥ ७९ ॥
वज्रास्थिबंधनः सोऽयं वज्रकीलश्च वज्रवत् ।
वज्रेणापि न हन्येत का कथा कीटहस्तिनः ॥ ८० ॥
यावत्स पौरुषः स्वीयः कृतः सर्वोऽपि दंतिना ।
भेत्तुं तस्य न रोमांशः शक्यो वज्रतनोस्तदा ॥ ८१ ॥
अलं वज्रशरीरस्य दंतिनो विजयेन किम् ।
अनुषंगादिहाख्यातं नातिमात्रं किमप्यहो ॥ ८२ ॥
उन्मदं विमदीकृत्य हस्तिनं क्षणमात्रतः ।
आरुरोह ततस्तूर्णं दत्वा पादौ च दंतयोः ॥ ८३ ॥
इतस्ततो महानागं चालयामास दर्पहा ।
जम्बूस्वामिकुमारोऽसौ सत्कृतः सर्वभूमिपैः ॥ ८४ ॥
अहो बलं कुमारस्य दृश्यतामद्भुतास्पदम् ।
रौद्रोऽपि हेलया दन्ती स चानेन वशीकृतः ॥ ८५ ॥
अहो पुण्यस्य माहात्म्यं महनीयं महात्मभिः ।
येन हस्तगतं सर्वं यशः सौख्यमथो जयः ॥ ८६ ॥

दृष्ट्वा वीर्यं कुमारस्य भूपो विस्मयतां गतः ।
स्वासनस्यार्धभागे तं नीतवानथ नीतिवित् ॥ ८७ ॥
सुप्रसन्नमनाश्चार्यश्लाघां कुर्वन्पुनः पुनः ।
पुष्पौघैरिव सद्रत्नैः पूजयामास भक्तितः ॥ ८८ ॥
धन्योऽसि त्वं महाभाग त्वया नागो वशीकृतः ।
साध्वी जिनमती धन्या यद्गर्भे त्वत्समोऽजनि ॥ ८९ ॥
अथ दुंदभिनादैस्तं सार्द्धं नृपशतैर्वृतैः ।
पुरे प्रवेशयामास दंतिनः शिरसि स्थितम् ॥ ९० ॥
अत्यादरात्ततश्चापि ताभ्यां नीतः स्वसद्मनि ।
पितृभ्यामर्चितः साक्षात्सन्मंगलपुरस्सरम् ॥ ९१ ॥
सिंहासने निवेश्याशु विनयानतमस्तकौ ।
पितरौ पृच्छतो भद्रं तत्स्नेहार्द्रितचक्षुषौ ॥ ९२ ॥
कुशलं ते तनौ वत्स निघ्नतो गजयूथपम् ।
इति केचित्कुमारं तं स्पृशंतो मृदुपाणिना ॥ ९३ ॥
क्व ते पुत्र वपुः सौम्यं कदलीदलसन्निभम् ।
क्व गिरीन्द्रसमो नागो निर्जितस्तु कथं त्वया ॥ ९४ ॥
विस्मयस्य परां कोटिं संदधानौ स्वसद्मनि ।
तस्थतुर्द्वौ सुखं यावत्पश्यंतौ तौ सुताननम् ॥ ९५ ॥
यस्मात् पुण्यविपाकाद्वै जम्बूस्वामिकुमारकः ।
मान्यो राजसभामध्ये तत्पुण्यं क्रियतां बुधैः ॥ ९६ ॥

इति श्रीजम्बूस्वामिचरित्रे भगवच्छ्रीपश्चिमतीर्थकरोपदेशानुसारित-
स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदपण्डितराजमल्लविरचिते
साधुपासासुतसाधुटोडरसमभ्यर्थिते जम्बूस्वामि-
वसंतकेलिहस्तिवशवर्णनो नाम षष्ठः पर्वः ।

अथ सप्तमः पर्वः ।

भवंतु श्रेयसे वाचः श्रीसर्वज्ञमुखोद्भवाः ।
श्रीसाधोः टोडरस्यास्य साधुपासांगजस्य वै ॥१॥ इत्याशीर्वादः
श्रेयांसं तीर्थकर्त्तारं हर्त्तारं दुःखसंततेः ।
वासुपूज्यं च वन्देऽहं सर्वविघ्नौघशान्तये ॥ १ ॥
अथैकदा सभामध्ये स्थिते राज्ञि सुविष्टरे ।
आनमन्मौलिभूपालनिषेव्यचरणांबुजे ॥ २ ॥
पतन्निर्झरसंकाशचामरालीविराजिते ।
महामात्यादिराजीवराजन्यकसमन्विते ॥ ३ ॥
लीलया तत्समीपे च जम्बूस्वामिनि संस्थिते ।
निर्जिते तद्वपुःकान्त्या भूपानां तेजसां चये ॥ ४ ॥
तत्राकस्मान्नभोमार्गादागतः खचराधिपः ।
एकोऽप्यात्माभितेजोभिर्दिशाचक्रं विभूषयन् ॥ ५ ॥
दिव्यं विमानमारूढो रणद्घंटाद्यलंकृतम् ।
व्योममार्गे ततः स्थाप्य समुत्तीर्णः क्षणादिह ॥ ६ ॥
स्थित्वावादीत्ततोऽध्यक्षं[1] राजानं श्रेणिकं प्रति ।
प्रश्रयानुद्धतं वाक्यं नमस्कारपुरस्सरम् ॥ ७ ॥
नाम्ना सहस्रशृंगोऽत्र राजते गिरिरुत्तमः ।
राजन् तत्र वसंत्येव महाविद्याधरा नराः ॥ ८ ॥

---

१ प्रत्यक्षं ।

भूधरे तत्र तिष्ठामि सकलत्रश्चिरात्सुखम् ।
नाम्ना व्योमगतिश्चाहमसहायपराक्रमः ॥ ९ ॥
निश्चिताद्य मया वार्ता या चित्रास्पदकारिणी ।
श्रोतव्या सा त्वया भूप कथ्यमाना मयाधुना ॥ १० ॥
अस्त्यन्यतो गिरीशानो नाम्ना वै मलयाचलः ।
अस्य दक्षिणदिग्भागे केरला पूरिहाख्यया ॥ ११ ॥
मृगांकस्तत्र भूपोऽस्ति यशस्वी च कलानिधिः ।
भामिनी तस्य नाम्नापि विद्यते मालती लता ॥ १२ ॥
सा स्वसा मम भो राजन् स्याच्छीलगुणमंडिता ।
कांचनाभा सुतन्वंगी रोमराजीविराजिता ॥ १३ ॥
या विशालवती नाम्ना सुता स्यादनयोः शुभा ।
कंदर्पैकविलासा सा निर्मिता विधिनाधुना ॥ १४ ॥
आकर्णांतविशालाक्षी पृथुपीनपयोधरा ।
संतप्तकनकच्छाया कांत्या कांतेः स्पृहावती ॥ १५ ॥
अथान्येद्युर्मृगांकाख्यः सोत्को[1] विद्याधराधिपः ।
पृच्छति स्म मुनीशानं प्रश्रयो मूर्तिमानिव ॥ १६ ॥
कृपावारिनिधे स्वामिन् ब्रूहि मे संशयच्छिदे ।
अस्मत्पुत्र्याः पतिर्भावी भविता कोऽत्र भूतले ॥ १७ ॥
आकर्ण्येदं वचस्तथ्यमुवाच मुनिनायकः ।
क्षालयन्निव दिक्चक्रं प्रसरद्दशनांशुभिः ॥ १८ ॥
पुरे राजगृहे रम्ये श्रेणिकोऽस्ति महीपतिः ।
विशालवत्यास्त्वत्पुत्र्याः परिणेता भविष्यति ॥ १९ ॥

१ सोत्कण्ठः ।

श्रुत्वा मुनिवचः पथ्यं मृगांको रुरुचे भृशम् ।
ततस्तामन्यस्मै दातुं स तूपेक्षापरोऽभवत् ॥ २० ॥
अथो विद्याधिनाथोऽस्ति रत्नचूलः समाख्यया ।
हंसद्वीपमलंकुर्वन् स्वमहिम्ना महौजसा ॥ २१ ॥
प्रार्थयामास सोऽत्यर्थं कन्यां तां कमलाननाम् ।
मृगांको न ददौ तस्मै मुनिवाक्यमलंघयन् ॥ २२ ॥
ततस्तेनातिरुष्टेन बद्धवैरेण कोपिना ।
स्वावज्ञं मन्यमानेन कृतं तस्य विरूपकम् ॥ २३ ॥
कृत्वा सैन्यं धनुःसज्जं विध्वस्तं तस्य पत्तनं[1] ।
तेन पापात्मना तत्र चैत्य सद्मानि निघ्नता ॥ २४ ॥
सर्वोऽप्युद्वासितो देशस्तस्य यावान् समृद्धियुक् ।
धनधान्यसमाकीर्णग्रामश्रेणिविराजितः ॥ २५ ॥
उच्छिन्नानि वनान्यस्य दुर्गाश्चापि विदारिताः ।
[2]आलकोलाहलेनालं सर्वस्वं भस्मसात्कृतं ॥ २६ ॥
त्रस्तस्तत्त्रासतः सोऽपि मृगांकः क्लीबतां श्रितः ।
अधिदुर्गे समासीनः प्राणान् रक्षति यत्नतः ॥ २७ ॥
वृत्तांतं सर्वमेवैतत्तत्रत्यं विद्यतेऽधुना ।
ज्ञानादन्यत्र को वेत्ति पुरस्तात्किं भविष्यति ॥ २८ ॥
अथ तत्र मृगांकोऽपि सावधानश्च संयति[3] ।
विधास्यति स संग्रामं श्वो दिने हि यथाबलं ॥ २९ ॥
क्रमोऽयं क्षात्रधर्मस्य सन्मुखत्वं यदाहवे ।
वरं प्राणात्ययस्तत्र नान्यथा जीवनं वरं ॥ ३० ॥

---

१ नगरम् । २ मिथ्या कोलाहलेन । ३ युद्धे ।

महतां न धनं प्राणाः किंतु मानधनं महत् ।
प्राणत्यागे यशस्तिष्ठेत् मानत्यागे कुतो यशः ॥ ३१ ॥
ये दृष्ट्वारिबलं पूर्णं तूर्णं भग्नास्तदाहवे ।
पलायंति विना युद्धं धिक् तानास्यमलीमसान् ॥ ३२ ॥
ये तु धैर्यं विधायाशु युद्धं कुर्वंति धीधनाः ।
मृतास्तत्रैव नो भग्ना धन्यास्ते हि यशस्विनः ॥ ३३ ॥
राजन् कृतवचोबंधस्तत्राहं गंतुमुद्यमी ।
आवश्यकमिदं कार्यं विलंबोऽनुचितो मम ॥ ३४ ॥
तथाप्यालोक्य भावत्कं दर्शनं स्थानमुत्तमम् ।
वृत्तांतं गदितुं चापि स्थितोऽहं क्षणमात्रतः ॥ ३५ ॥
अतः स्थातुं क्षमं यावदतिमात्रं न मे मनः ।
राजन्नाज्ञापयत्वाशु यथा गच्छामि वेगतः ॥ ३६ ॥
इत्युक्त्वा स नभोगामी त्वरितं प्रस्थातुमुद्यतः ।
जंबूस्वामीत्यथोवाच वचो विद्याधरं प्रति ॥ ३७ ॥
तिष्ठ तिष्ठ क्षणं यावद्भवेत्सज्जो नराधिपः ।
श्रेणिकोऽयं महासत्त्वो निर्जिताखिलशात्रवः ॥ ३८ ॥
चतुरंगबलोपेतो महाधैर्यो महामतिः ।
सप्तांगराज्यपूर्णांगस्तेजस्वी यशसां चयः ॥ ३९ ॥
श्रुत्वा वचः कुमारोक्तं खगो विस्मितमानसः ।
अवादीत्तं समाधाय युक्तिपूर्वं वचोऽखिलं ॥ ४० ॥
युक्तमुक्तं त्वया बाल क्षात्रधर्मोचितं हि यत् ।
परंत्वेदमसंभावि युक्त्याभासानिबंधनं ॥ ४१ ॥

यद्योजनशतं दूरे तत्स्थानं तिष्ठतेऽधुना ।
तत्र गंतुं न शक्येत का कथा वीरकर्मणः ॥ ४२ ॥
अपि भूगोचरा यूयं ते भटा व्योमचारिणः ।
कथं साम्यं भवेद्योद्धुं युष्माकं सह तैरहो ॥ ४३ ॥
यथार्भकः करस्फालैर्ग्रहीतुं जलसंस्थितं ।
प्रतीच्छतीन्दुबिंबं हि तथा युष्मत्प्रजल्पितम् ॥ ४४ ॥
अथवा (अथ) हास्यास्पदं चैतदुद्बाहुर्वामनो यथा ।
प्रांशु वृक्षफलं भोक्तुं तथा स्याद्भवदुद्यमः ॥ ४५ ॥
यदि कश्चिदविद्योपादारुह्येत् कनकाचलं (?) ।
तथेयं घटते नूनं युष्मदीया समुद्धतिः ॥ ४६ ॥
विना नावा पयोनाथं यथा कश्चित्तितीर्षति ।
रत्नचूलं तथा जेतुं युष्मदीयो मनोरथः ॥ ४७ ॥
दर्शितेत्यादिका भूमिर्दृष्टान्तानां सहस्रशः ।
तेन विद्याधरेणोच्चैर्यथात्मप्रतिभाबलं ॥ ४८ ॥
मोघीकृताथ सर्वापि कुमारेण यशस्विना ।
वावदूकैर्यथा जल्पे प्रतिदृष्टान्तकोविदैः ॥ ४९ ॥
मा वद विद्यापते वाचमित्थमज्ञातपूर्विकां ।
ऋते केवलबोधाद्वा को वेत्त्यन्यो बलाबलं ॥ ५० ॥
क्षणान्निरुत्तरो जातः खगो व्योमगतिस्तदा ।
मूकीभूत इवातस्थौ दर्शितुं तत्पराक्रमम् ॥ ५१ ॥
श्रेणिकस्तद्वचः श्रुत्वा साहंकारोऽभवन्नृपः ।
वीक्ष्येदं दुर्घटं कृत्यं किंचिदाकुलमानसः ॥ ५२ ॥

भूयोभूयः परामृश्य खेदमाप धरापतिः ।
किंचित्कर्त्तु न शक्येत दुर्घटे तत्र कर्मणि ॥ ५३ ॥
नापि तत्र गमस्तूर्णं न क्षमो दातुमुत्तरम् ।
युग्मकाष्ठाधिरूढं वा राज्ञो दोलायते मनः ॥ ५४ ॥
तदत्रावसरे धीरो जम्बूस्वामिकुमारकः ।
ऊचे साम्नैव सानंदं गंभीरतरया गिरा ॥ ५५ ॥
स्वामिन्नेतत्कियत्कार्यं त्वत्प्रसादात् प्रसिद्ध्यति ।
आस्तां दूरे सहस्रांशुस्तदंशोऽपि तमोपहः ॥ ५६ ॥
कार्यस्य साधनायालं मादृशोऽपि भविष्यति ।
किं पुनर्युष्मदीया सा सज्जिता सर्वतश्चमूः ॥ ५७ ॥
उक्तं जम्बूकुमारेण श्रुत्वानंदमवीविशत् ।
श्रेणिकः श्रद्दधाति स्म प्रोक्तं तत्त्वं सदृष्टिवत् ॥ ५८ ॥
ततश्चोचे भराद्भद्रं सानंदो मगधाधिपः ।
एवं चेत्क्षात्रधर्मस्य मर्यादा स्यादविप्लुता ॥ ५९ ॥
आत्मजन्म पुनर्जातमिव मन्यामहे वयं ।
कन्यालाभः पदार्थेषु क्षत्रियेषु यशश्चयः ॥ ६० ॥
ज्ञात्वेमां च त्वया धीर फलानां हि परंपरां ।
गंतव्यं त्वरितं तत्र नाद्य श्रेयो विलंबनं ॥ ६१ ॥
आदेशितः कुमारोऽसौ नृपेनानंदशालिना ।
असहायबलश्चैको निर्भीको गंतुमुद्यतः ॥ ६२ ॥
अथोवाच खगाधीशं नाम्ना व्योमगतिं प्रति ।
जम्बूस्वामिकुमारोऽसावुत्सुको वीरकर्मणि ॥ ६३ ॥

१ नाशरहिता ।

भो खगेन्द्र विमानेऽस्मिन्नात्मीये मां निवेशय ।
इतो नयस्व तत्राशु यत्रास्ते रत्नचूलकः ॥ ६४ ॥
श्रुत्वा चित्रास्पदं वाक्यमिदमाह खगाधिपः ।
गतेनापि त्वया तत्र कर्त्तव्यं किमथार्भक ॥ ६५ ॥
तावद्धत्ते स्वसद्मस्थश्चापल्यं मृगशावकः ।
यावन्नाभिमुखं गर्जन् क्रुद्धो नायाति केशरी ॥ ६६ ॥
तावद्वपुः परं सौम्यं लसन्सौंदर्यराजितं ।
यावद्दंष्ट्राकरालोऽसौ कृतांतो नात्तुमिच्छति ॥ ६७ ॥
तावत्तृणगणाः सर्वे सन्त्वरण्येषु शाद्वलाः ।
यावन्न स्याज्ज्वलज्ज्वालः प्रचंडो दावपावकः ॥ ६८ ॥
तावदाडंबरं धत्ते सर्वोऽप्यभ्रगणोऽम्बरे ।
यावच्चंडानिलः कोऽपि न वायादतिदुर्द्धरः ॥ ६९ ॥
तावदायुः स्वमारोग्यं यशः संपद्धनं जयः ।
यावल्लेशो न पापस्य नोदेत्यत्र गरीयसः ॥ ७० ॥
तावद्ब्रह्मव्रतं साक्षान्निर्मलं जैनधर्मवत् ।
यावद्योषित्कटाक्षाणां नापातैर्जर्जरं मनः ॥ ७१ ॥
तावन्मूलगुणाः सर्वे संति श्रेयोविधायिनः ।
यावद्ध्वंसी न रोषाग्निर्भस्मसात्कुरुते क्षणात् ॥ ७२ ॥
गौरवं तावदेवास्तु प्राणिनः कनकाद्रिवत् ।
यावन्न भाषते दैन्याद्देहीति द्वौ दुरक्षरौ ॥ ७३ ॥
तद्धत्ते वल्गनं तावत्सुंदरं बाललालितः ।
रत्नचूलस्य बाणैस्त्वं यावन्नो जर्जरीकृतः ॥ ७४ ॥

इति कोपपरं वाक्यं शृण्वन् भूयो जगाद सः ।
अंतःसंधुक्षितो वह्निर्यथाग्रे प्रज्वलिष्यति ॥ ७५ ॥
भो भो व्योमगते प्राज्ञ यावदे(दि)त्थं कदाचन ।
यत्करिष्यामि बालोऽहं तत्त्वं द्रक्ष्यसि सांप्रतं ॥ ७६ ॥
कुर्वंति न वदंत्येव कुर्वंति च वदंति च ।
क्रमादुत्तममध्यास्तेऽधमोऽकुर्वन् वदन्नपि ॥ ७७ ॥
सूक्तमुक्तं कुमारेण श्रुत्वेदं मगधाधिपः ।
अवोचत्प्रति विद्येशं ज्ञाततत्पौरुषस्तदा ॥ ७८ ॥
यदुक्तं भवता व्योमचारिन्नत्र समक्षतः ।
एकाकी तत्र नीतोऽपि बालोऽयं किं करिष्यति ॥ ७९ ॥
स ते पक्षः सपक्षोऽपि प्रतिपक्षैर्दूषितोऽखिलः ।
मृगेन ना (न) हतः सिंहो हतश्चाष्टापदेन सः ॥ ८० ॥
हतं येन जगत्सर्वं हतः सोऽपि जिनैर्यमः ।
जलदेनोपशमं नीतो प्रचंडो दवपावकः ॥ ८१ ॥
वायुः प्रचालयत्यभं न गिरीन्द्रं महोन्नतं ।
मिथ्याज्ञाने भवेदेवं रजन्यां चांधकारवत् ॥ ८२ ॥
न च स्वात्मपरिज्ञाने यथा सूर्योदये तमः ।
अथ योषित्कटाक्षैश्च हता मन्मथशालिनः ॥ ८३ ॥
यो न क्रोधाग्निना दग्धः सर्वः कर्मोदयावृतः ।
कैश्चित्क्रोधानलः सोऽपि नीतः शांतिं क्षमांभसा ॥ ८४ ॥
दीक्षामादाय तीर्थेशः सर्वसत्त्वहितंकरां ।
भिक्षया भुंजमानोऽपि पूज्यः स्यात्सुरनायकैः ॥ ८५ ॥

अथैकोऽप्यंबरस्थायी प्रकृतेस्तेजसां चयः।
तमस्तोमं विधुन्वानो नोदेति किमु भानुमान् ॥ ८६ ॥
सूक्तं च वृद्धवाक्येषु यत्परीक्षाक्षमं वचः।
यः कार्यसाधनायालमेकोऽपि च लक्षायते ॥ ८७ ॥
इत्यादिकां वचोमालां रचितां श्रेणिकेन वै।
धारयामास वा मूर्ध्नि सादरात्तत्र व्योमगः ॥ ८८ ॥
आज्ञया स्थापयामास खगो दिव्ये विमानके।
जम्बूस्वामिकुमारं तमनौपम्यबलान्वितं ॥ ८९ ॥
व्योममार्गो तदा यानं गच्छति स्म त्वरान्वितं।
शीघ्रमापेप्सितं स्थानं यथा वेगात्मनो जवः ॥ ९० ॥
अथानु[1] तं स भूपोऽपि प्रतस्थे श्रेणिकस्तदा।
चतुरंगबलोपेतः सार्धं सर्वैर्भटोद्भटैः ॥ ९१ ॥
भेर्यः प्रस्थानशंसिन्यो नेदुरामंद्रनिःस्वनाः।
अकालस्तनिताशंकामातन्वानाः शिखंडिनां ॥ ९२ ॥
चलतां रथचक्राणां चीत्कारैर्हयहेषितैः।
बृंहितैश्च गजेन्द्राणां शब्दाद्वैतं तदाभवत् ॥ ९३ ॥
षडंगबलसामग्र्या संपन्नः पार्थिवैरमा[2]।
प्रतस्थे श्रेणिको भूपो रत्नचूलजिगीषया ॥ ९४ ॥
महान् गजघटाबंधो रेजे स जयकेतनः।
गिरीणामिव संघातः संचारी सहघातिभिः ॥ ९५ ॥
श्च्योतन्मदजलासारासिक्तभूमिमदद्विपैः।
प्रतस्थे रुद्धदिक्चक्रैः शैलैरिव सनिर्झरैः ॥ ९६ ॥

१ पश्चात्। २ सह।

जयस्तंबेरमा रेजुस्तुंगाः शृंगारितांगकाः ।
सांद्रसांध्यातपाक्रांताश्चलंत इव भूधराः ॥ ९७ ॥
चमूमतंगजा रेजुः सज्जाः सज्जयकेतनाः ।
कुलशैला इवायाताः प्रभोः स्वबलदर्शने ॥ ९८ ॥
गजस्कंधगता रेजुर्दुर्गता विधृतांकुशाः ।
प्रदीपोद्भटनेपथ्या दर्पाः संदीपिता इव ॥ ९९ ॥
कौक्षेयकैर्निशातोग्रधाराग्रैः सादिनो बभुः ।
मूर्तीभूय भुजोपाग्रलग्नैर्वा स्वैः पराक्रमैः ॥ १०० ॥
धन्विनः सुरनाराचसंभृतेषुधयो बभुः ।
वनक्ष्माया महाशाखाकोटरस्थैरिवाहिभिः ॥ १०१ ॥
रथिनो रथकट्यासु संभृतोचितहेतयः ।
संग्रामवार्धितरणे प्रास्थिता नाविका इव ॥ १०२ ॥
भटा हस्त्युरसं भेजुः सशिरस्त्रतनुत्रकाः ।
समुत्खातनिशातासिपाणयः पद्रक्षणैः ॥ १०३ ॥
प्रस्फुरत्स्फुरदस्त्रौघा भटाः संदर्शिताः परे ।
औत्पातिका इवानीला सोल्का मेघाः समुत्थिता ॥ १०४ ॥
करवालं करालाग्रं करे कृत्वाऽभयोऽपरः ।
पश्यन् मुखरसं तस्मिन् स्वसौंदर्यं परिजज्ञिवान् ॥ १०५ ॥
कराग्रं विधृतं खड्गं तुलयत्कोऽप्यभाद्भटः ।
प्रमिमित्सुरिवानेन स्वामीसत्कारगौरवं ॥ १०६ ॥
महामुकुटबद्धानां साधनानि प्रतस्थिरे ।
पादातिहास्तिकाश्वीयरथकट्यापरिच्छिदैः ॥ १०७ ॥

१ जयहस्ती । २ खड्गैः । ३ अश्वारूढाः । ४ तूणीराः । ५ शस्त्राणि । ६ शिरस्त्रायते इति शिरस्त्रम्; तनुत्रकाः कवचाः ।

बभुर्मुकुटबद्धास्ते रत्नांशूदग्रमौलयः ।
सलीलं लोकपालानामंशा भुवमिवागताः ॥ १०८ ॥
परिवेष्ट्य नैरंतर्ये पार्थिवाः पृथिवीश्वरं ।
दूरात्स्वबलसामग्रीं दर्शयंतो यथायथम् ॥ १०९ ॥
भूरेणवस्तदाश्वीयखुरोद्धूताः खलंघिनः ।
क्षणविघ्नितसंप्रेक्षा प्रचलत्कुमरांगणाः ॥ ११० ॥
समुद्भटरसप्रायैर्भटालापैर्महीश्वराः ।
प्रयाणका धृतिं प्रापुर्जनजल्पैरपीदृशैः ॥ १११ ॥
विरूपकमिदं युद्धमारब्धं मगधेशिना ।
ऐश्वर्यमददुर्वाराः स्वैरिणः प्रभवो यथा ॥ ११२ ॥
पुरः पादातमश्वीयं रथकट्याद्यहास्तिकं ।
क्रमान्निरीयुरावेष्ट्य सपताकं रथं प्रभोः ॥ ११३ ॥
शनैः शनैर्जनैर्मुक्ता विरेजुः पुरवीथयः ।
कल्लोलैरिव वेलोत्थैर्महाब्धेस्तीरभूमयः ॥ ११४ ॥
पुरांगनाभिरुन्मुक्ताः सुमनोऽञ्जलयोऽपतन् ।
सौधवातायनस्थायिदृष्टिपातैः समं प्रभोः ॥ ११५ ॥
पुरो बहिः पुरो पश्चात्समं च विधिनाधुना ॥
ददृशे दृष्टिपर्यंतमसंख्यमिव तद्बलम् ॥ ११६ ॥
किमिदं प्रलयक्षोभात्क्षुभितं वारिधेर्जलं ।
किमुत त्रिजगत्सर्गः प्रत्ययोग्रं विजृंभते ॥ ११७ ॥
क्वचिल्लताग्रहांतस्थचंद्रकांतिशिलाश्रितान् ।
स्वयशोगानसंसक्तान् किन्नरान् प्रभुरैक्षत ॥ ११८ ॥

---

१ आच्छादितनेत्राः ।

क्वचिल्लताप्रसूनेषु विलीनमधुपावली ।
विलोक्य स्रस्तकेशीनां सस्मार प्रिययोषितां ॥ ११९ ॥
यच्छायात्सफलांस्तुंगान् सर्वसंभोग्यसंपदः ।
मार्गद्रुमान् समद्राक्षीत्स नृपाननुकुर्वतः ॥ १२० ॥
सरस्तीरभुवोऽपश्यत् सरोजरजसा तताः ।
सुवर्णकुट्टिमाशंका मधुःसुहृदि तन्वतीः (?) ॥ १२१ ॥
बलरेणुभिरारब्धे[1] दोषा मन्ये नभस्यसौ ।
करुणां रुदंतीं वीक्ष्य चक्रे चक्राह्वकामिनीं ॥ १२२ ॥
गवांगणानथापश्यद्गोष्पदारण्यचारिणः ।
क्षीरमेघानिवाजस्रं क्षरत्क्षीरप्लुतांकितान् ॥ १२३ ॥
सौरभेयान्[2] सशृंगाग्रसमुत्खातस्थलांबुजान् ।
मृणालानि यशांसीव किरणान्पश्य दुर्मदान् ॥ १२४ ॥
वात्सकं क्षीरसंतोषादिव निर्मलविग्रहम् ।
सोऽपश्यच्चापलस्येव परां कोटिं कृतोत्प्लुतां ॥ १२५ ॥
वप्रांते भुवमाघ्रातुमिवोत्पलमिवानतान् ।
सुपक्वकणिसानस्रं कलमक्षेत्रमैक्षत ॥ १२६ ॥
नौद्धत्यं फलयोगीति[3] नृणां वक्तुमिवोद्यतं ।
पश्यति स्म स भूपालो राजन्यकपरिवृतः ॥ १२७ ॥
सावतंसितनीलाब्जाः कंजरेणुश्रितस्तनीः ।
इक्षुदंडभृतो पश्यत् स्थलीस्थो कुर्वतीः स्त्रियः ॥ १२८ ॥
हारिगीतस्वनाकृष्टैर्वेष्टिता हंसमंडलैः ।
शालिगोप्यो दृशोरस्य मुदं तेनुर्वधूटिकाः ॥ १२९ ॥

---

१ सैन्यरजोभिः । २ वृषभान् । ३ फलेन योक्तुं शीलमस्यास्तीति तत्तथाभूतं ।

सुगंधिमुखनिःश्वासाद्भ्रमरैराकुलीकृताः ।
मनोऽस्य जह्रुः शालीनां पालिकाः कुलबालिकाः ॥ १३० ॥
मध्यस्थोऽपि तदा तीव्रं तताप तरणिर्ध्रुवं ।
नूनं तीव्रप्रतापानां माध्यस्थ्यमपि तापकं ॥ १३१ ॥
नृपांगनामुखाब्जानि घर्मबिंदुभिराबभुः ।
मुक्ताफलैर्द्रवीभूतैरिवालकविभूषणैः ॥ १३२ ॥
महाजवयुषो वक्त्रादुद्वमंत खुरानिव ।
महोरस्काः स्फुरत्प्रोथा द्रुतं जग्मुर्महाहयाः ॥ १३३ ॥
अभूतपूर्वमुद्भूतप्रतिध्वानबलध्वनिम् ।
श्रुत्वा बलवदुत्रेसुस्तिर्यंचो वनगोचराः ॥ १३४ ॥
बलक्षोभादिभो निर्यद्बलक्षोभाद्वनांतरात् ।
सुरेभः सुविभक्तांगः सुरेभ इव कर्षणः ॥ १३५ ॥
प्रबोधजृंभनादास्यं व्यादद्रौ किल केशरी ।
न मेऽस्त्यंतर्भयं किंचित्पश्यतेऽतीव दर्शयन् ॥ १३६ ॥
सरभो रभसादूर्ध्वमुत्पत्योत्तानितः पतन् ।
स्व स्व एव पदैः पृष्ठैरभून्निर्मातृकौशलात् ॥ १३७ ॥
पाषाणे लिखितस्कंधो रुषितातास्त्रितेक्षणः ।
खुरो खातावनिः सैन्यैर्ददृशे माहिषो विभीः ॥ १३८ ॥
चमूरश्च (थर ?) वोद्भूतसाध्वसाः[2] क्षुद्रका मृगाः ।
वित्रस्ता वेपमानांगा महारण्यं तुरा(?)श्रयन् ॥ १३९ ॥
वराहाररतिं मुक्त्वा वराहा मुक्तपल्वलाः ।
विनेशुर्विस्फुरद्यूथाश्चमूक्षोभादितोऽमुतः ॥ १४० ॥

---

१ प्रससार । २ भययुक्ताः ।

इति मत्वा वनस्येव प्राणाः प्रचलिता भृशम् ।
प्रत्यासत्तिं चिरादीयुः सैन्यक्षोभे प्रसेमुखि ॥ १४१ ॥
ततोऽपि दूरमुल्लंघ्य सोऽध्वगं पृतनावृतः ।
रेवासरित्तटे धीरो विश्राममकरोत्कृती ॥ १४२ ॥
ततस्तां च समुत्तीर्य प्रतस्थे केरलां प्रति ।
विशश्राम कियत्कालं नाम्ना कुरलभूधरे ॥ १४३ ॥
पूजयामास भूमीशस्तत्र बिंबं जिनेशिनः ।
मुनीनपि महाभक्त्या ततः प्रस्थातुमुद्यतः ॥ १४४ ॥
कियद्दूरे ततो गत्वाऽतिष्ठच्छ्रीमगधाधिपः ।
अध्वश्रमापरोधाय सेनासामंतसंयुतः ॥ १४५ ॥
अथ तावद्द्रुतं प्राप केरलां नगरीं प्रति ।
जम्बूस्वामिकुमारोऽसौ नीतो विद्याधरेण यः ॥ १४६ ॥
किमिदं भो खगाधीश महाकोलाहलाकुलम् ।
साक्षात्कारी त्वमेवासि ब्रूहि नः संशयच्छिदे ॥ १४७ ॥
ततोऽवादीन्नभोगामी कुमारं प्रति प्रश्रयात् ।
सेयं सेना स्थिता बाल रत्नचूलस्य तद्द्विषः ॥ १४८ ॥
यो मयाऽभाणि विद्याभृत् पूज्ये सर्वारिनाशकृत् ।
कन्यायाच्ञामहामानभंगमन्योऽस्ति रोषवान् ॥ १४९ ॥
उद्वासितस्तु येनायं देशः सर्वोऽपि कोपतः ।
मृगांको यद्भयाद्भीतो दुर्गमाश्रित्य तिष्ठति ॥ १५० ॥
अजय्यो निर्जिताशेषशात्रवोऽयं खगेश्वरः ।
विद्याधराधिनाथैस्तैः संसेव्यचरणांबुजः ॥ १५१ ॥

---

१ सेना ।

खगादेतद्वचः श्रुत्वा कुमारो ज्वलितोऽभवत् ।
यथा प्रज्वालितं तैलं जज्वाल जलयोगतः ॥ १५२ ॥
रक्ष रक्ष विमानं भो तावद्व्योमगते क्षणात् ।
यावता रत्नचूलस्य द्रक्ष्यामि बलमुद्धतम् ॥ १५३ ॥
ततो विमानमुत्सृज्य शत्रुसेनामवीविशत् ।
पश्यन्नितस्ततः सैन्यं कौतुकेन कुतूहली ॥ १५४ ॥
दर्श दर्श कुमारं तं सुंदरं मारसंनिभम् ।
जजल्पुश्चकितं किंचिन् मिथस्तत्सैनिका भटाः ॥ १५५ ॥
अहो देवाधिनाथोऽयमायातो लीलया स्वतः ।
दानवोऽप्यहिनाथो वा कामदेवोऽथवागतः ॥ १५६ ॥
द्रष्टुं वा सैन्यमस्माकमाजगाम शचीपतिः ।
अथ कश्चिन्महाभागो लक्ष्मीवान् किं वणिक्पतिः ॥ १५७ ॥
सेवितुं रत्नचूलस्य पदद्वंद्वं खगोऽथवा ।
साध्वसात्परचक्रस्य सत्सहायधिया किमु ॥ १५८ ॥
अथ कश्चिन्महीपालो दंडं दातुमिवागतः ।
जीवनस्य कृते व्याजादाधातुं स्नेहमुत्तमम् ॥ १५९ ॥
अथ कश्चिच्छलान्वेषी धूर्तो वेषधरो नरः ।
वावदूकश्च वाचालः पाटवाच्चित्तरंजकः ॥ १६० ॥
एवं तत्सैन्यलोकेषु नानावाक्यं वदत्स्वपि ।
जम्बूस्वामिकुमारोऽसौ गतस्तद्द्वारितः क्षणात् ॥ १६१ ॥
अथोवाचत्स निर्भीको रे रे द्वाःपालकाह्वय ।
संदिष्टं मम नीत्वाशु खगस्याग्रे निवेदय ॥ १६२ ॥

अहं दूतो मृगांकेन पाठयित्वाथ प्रेषितः ।
तत्सर्वं वक्तुमिच्छामि तत्त्वं साम्यकरं वचः ॥ १६३ ॥
श्रुत्वा दंडधरो द्वाःस्थस्तस्यास्थाने गतो जवात् ।
प्रभुं नत्वोत्तमांगेन प्रावोचत्स विचक्षणः ॥ १६४ ॥
देव कश्चिन्नरो वाग्मी त्वद्द्वारि स्थितवानिह ।
वक्तुमिच्छति साम्नैव युष्मत्संदर्शनोत्सुकः ॥ १६५ ॥
श्रुत्वा रत्नशिखश्चापि तद्वचः श्रुतिपेशलं ।
मंक्षु प्रवेशय स्वै (?) नमित्यूचे मत्सरी खगः ॥ १६६ ॥
आज्ञामादाय द्वाःस्थेन तत्समीपे प्रवेशितः ।
जंबूस्वामिकुमाराख्यो ज्वलत्कांत्या वपुच्छविः ॥ १६७ ॥
प्रविष्टः स दिदीपे वा तिग्मांशुरिव भूतले ।
सर्वं तेजः खगेशानां तिरस्कुर्वन् स्वकांतिभिः ॥ १६८ ॥
दृष्ट्वा तं रत्नचूलोऽथ क्षणं विस्मयमाप सः ।
कथं संभावि दूतत्वमस्य कांतिमतः स्वतः ॥ १६९ ॥
यत्किंचिदुचितं चात्र नमस्कारक्रियादिकम् ।
न कृतं चाटु वाक्यं वा स्थीयते तेन स्तंभवत् ॥ १७० ॥
नूनं कश्चिदपूर्वोऽयं देवो वा मानवोऽथवा ।
परीक्षां कर्त्तुमायातो मद्बलस्यापि गौरवात् ॥ १७१ ॥
चिंतयन्निति पप्रच्छ रत्नचूलः कुमारकम् ।
आगतस्त्वं कुतो देशात्किमर्थं मम सन्निधौ ॥ १७२ ॥
श्रुत्वाऽवोचत्कुमारश्च रत्नचूलं खगं प्रति ।
नीतिमार्गं समाश्रित्य त्वां विबोधयितुं जवात् ॥ १७३ ॥

---

१ शीघ्रं ।

त्वं जहीहि दुराग्राहमिहामुत्र च दुःखदम् ।
अयशस्करं खगाधीश महादुर्गतिकारणं ॥ १७४ ॥
संति योषित्सहस्राणि सुलभानि पदे पदे ।
तवानयैव किं साध्यं नेति विद्मोऽधुना वयं ॥ १७५ ॥
अथ चेद्बलसामर्थ्यान्मात्सर्यं वहसि ध्रुवं ।
इदमज्ञविलासोत्थं दृश्यतेऽद्वैतवादवत् ॥ १७६ ॥
यतश्चास्मिन् भवावर्त्ते जंतवः कर्मशालिनः ।
विद्यंते बहवोऽजस्रं पर्यटंति यथायथम् ॥ १७७ ॥
कर्म नानाविधं तच्च विचित्ररसपाकतः ।
तत्स्वरूपमजानाना जीवा दुर्दृष्टयः स्मृताः ॥ १७८ ॥
उक्तं च—

" अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतायां हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा ।
अनीश्वरो जंतुरहं क्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः " ॥१॥
"बिभेति मृत्योर्न ततोऽस्ति मोक्षो नित्यं शिवं वांछति नास्य लाभः।
तथापि बालो भयकामवश्यो वृथा स्वयं तप्यत इत्यवादीः " ॥२॥

अलं मल्लोऽपि मल्लाय तस्मै चापल्यमन्यकः ।
तस्माच्चपलमन्योऽस्ति संसारस्येदृशी स्थितिः ॥ १७९ ॥
न कोऽपि विजयीभूत्वा निष्प्रत्यूहविजृंभितः ।
संसृतावत्र जीवानां प्रत्यक्षं यमभक्षणात् ॥ १८० ॥
रत्नचूल खगाधीश सद्विचारपरो भव ।
बलिनोऽप्युत्पथारूढाः क्षणान्नष्टाः प्रमादिनः ॥ १८१ ॥

१ समंतभद्रविरचिते बृहत्स्वयंभूस्तोत्रे । २ संसारे ।

यथा दर्पलवावेशाच्छ्रूयंते रावणादयः।
भूत्वा चात्रायशःपात्रा मृत्वा वा दुर्गतिं ययुः ॥ १८२ ॥
इयं कन्या ददावादौ श्रेणिकाय महीभृते।
भवतेऽद्य कथं दातुं सोऽचिता दुर्यशोभयात् ॥ १८३ ॥
न वायं क्षात्रधर्मोऽस्ति संगराद्यत्पलायनम्।
जीवनस्य कृते धीमान् कः पिबेद्दुर्यशोविषम् ॥ १८४ ॥
तत्प्रसीद खगाधीश प्रमादं मा विधेहि भो।
गर्हितं तदिदं वाक्यं वक्तव्यं न त्वया क्वचित् ॥ १८५ ॥
इति सूक्तिवचःपुष्पैर्गुंफितां चातिशीतलाम्।
मालामुष्णतरां मेने विरहीव खगस्तदा ॥ १८६ ॥
ततस्ताम्रेक्षणः क्षोभात्किंचित्प्रस्फुरिताधरः।
ज्वलत्क्रोधानलज्वालां खगो वाचमुदीरयत् ॥ १८७ ॥
दूतमन्योऽसि रे बाल यस्त्वमभ्यागतो गृहे।
अवध्योऽसि ततो नान्या गतिस्त्वादृक् शठस्य वै ॥ १८८ ॥
प्रस्तावेऽनुचितं वाक्यं विरुद्धं वैरवर्धनम्।
वदन्न लज्जसे दूत स्वामिकार्यविनाशकृत् ॥ १८९ ॥
वाच्यावाच्यं न वेत्सि त्वं न वेत्सि च बलाबलम्।
केवलं वावदूकोऽसि धाष्टर्च्य (वै?) नाटयन्निव ॥ १९० ॥
भानुमुद्भासितुं नालं यथा धृष्टोऽपि कौशिकः।
वाचालत्वं तथा दूत नालं वक्तुमिदं वचः ॥ १९१ ॥
जीरकः किमु हेमाद्रिं भेत्तुमुत्सहते शठः।
मृगांकः श्रेणिको नालं मामाराधयितुं युधि ॥ १९२ ॥

१ दूतसदृशः।

वयं विद्याधरा दूत श्रेणिको भूमिगोचरः।
आवयोर्बलसामर्थ्ये तुल्यता न कदाचन ॥ १९३ ॥
आलकोलाहलेनालं तत्त्वं वाचंयमी भव।
मया सार्धं युधित्सुर्यः स सर्वोऽप्यायातु वेगतः ॥ १९४ ॥
इत्युक्त्वा रत्नचूलः स स्थितो निभृतमानसः।
समुद्र इव गंभीरो निस्तरंगोऽप्यनाकुलः ॥ १९५ ॥
अथ निर्घोषवद्वाक्यमूचे जम्बूकुमारकः।
वज्रसंहननोपेतश्चंडो दोर्दंडविक्रमः ॥ १९६ ॥
रत्नचूल खगाधीश यत्त्वयोक्तं समत्सरात्।
दर्पाभावमहं मन्ये तत्सर्वं हेतुबाधितम् ॥ १९७ ॥
यद्दशास्योऽपि विद्याभृद्धतो भूगोचरेण सः।
राघवेण बलादेव युद्धता सह सैन्यकैः ॥ १९८ ॥
वायसस्यापि विद्येत वियद्गामित्वमंजसा।
सोऽपि जर्जरितो बाणैर्दृष्टो भूमौ पतन्निह ॥ १९९ ॥
आकर्ण्येदं वचस्तस्य जातकोपेन तेन वै।
प्रेरितास्तद्विघातार्थमुत्खातासिलता भटाः ॥ २०० ॥
ततस्तैर्हंतुमारब्धो जम्बूस्वामी बलान्वितः।
मूढैरज्ञाततद्बीजैः शस्त्रैः कुंतादिभिः शितैः ॥ २०१ ॥
यावद्धंतुं कृतोद्योगा भटाश्चाष्टसहस्रकाः।
दोर्भ्यामूर्द्ध्वं कुमारेण नीतास्ते यममंदिरम् ॥ २०२ ॥
ततःप्रभृति युद्धस्य प्रारंभः स्यान्महत्तरः।
एकतोऽयं कुमारः स्यात्परतो भटकोटयः ॥ २०३ ॥

कियत्कालं कुमारेण योद्धारो बलशालिनः ।
आतिथ्यं यमगेहस्य नीता दोर्दंडविक्रमैः ॥ २०४ ॥
पौरुषं चेत्किमत्रास्त्रैराहोस्विद्भारकारकैः ।
अथ चेन्न किमप्यस्त्रैर्मृतस्याभरणैरिव ॥ २०५ ॥
अथ व्योमगतिर्ज्ञात्वा द्वौ मिथो योद्धुमुद्यतौ ।
कुमारस्यार्पयामास कृपाणं निशितं स्वतः ॥ २०६ ॥
अथावोचत्कुमारं स नाम्नाकाशगतिस्तदा ।
अधिरुह्य विमानं मे घातयारिकुलं महत् ॥ २०७ ॥
श्रुतं तेन कुमारेण वाचा शस्त्रेण खंडितम् ।
न स्थितं श्रुतिरंध्रस्य वाक्यं चापि खगोदितम् ॥ २०८ ॥
सुहृदत्र स्थितेनापि किं किल प्राणरक्षया ।
भटानामाहवे[1] नूनमस्ति चेत्तृणवद्वपुः ॥ २०९ ॥
उक्तं हि—
"ब्रह्मचारी तृणं नारी शूरस्य मरणं तृणम् ।
दातुश्चापि तृणं लक्ष्मी निस्पृहस्य तृणं जगत्" ॥ २१० ॥
दिदीपेऽतितरां तस्य हस्ते खड्गलता तदा ।
दारितारिपलैर्लिप्ता यमजिह्वेव जित्वरी ॥ २११ ॥
यत्र कुर्यात्प्रहारं स खड्गपाणिः कुमारकः ।
तत्रारिमस्तकस्तोमो न्यपतद्भुवि वेगतः ॥ २१२ ॥
असिकुंतशराघातं कुर्वन्तोऽनुकुमारकम् ।
सर्वे निरर्थका जाता रत्नचूलस्य सैनिकाः ॥ २१३ ॥

---

१ युद्धे ।

वज्रकायस्य तस्यात्र रोमांशोऽपि न भिद्यते ।
निर्जितस्मरसैन्येषु किमपांगपातैरपि ॥ २१४ ॥
युद्धं कुर्वति तत्रास्मिन् सावधानतयाहवे ।
स्थातुं तत्पुरतः कोऽपि न शशाक भटोत्तमः ॥ २१५ ॥
यथा तिग्मकरश्चैको हंति संतमसं जवात् ।
सप्रतापस्तथा सोऽपि जघान रिपुसंहतिम् ॥ २१६ ॥
अथात्रावसरे दैवात्केनचित्तत्र चारिणा ।
मृगांकस्य चरेणाशु गत्वा तत्र निवेदितम् ॥ २१७ ॥
देव कश्चित्समायातो भवत्पुण्यविपाकतः ।
शत्रुसैन्यमहारण्ये ज्वलद्दावानलोपमः ॥ २१८ ॥
अधुना युद्धं करोत्येष निभृतं संयति स्थितः ।
हंत सूनस्ति (स्तनति) नारीणां दुर्जयोऽवध्यविग्रहः ॥ २१९ ॥
स बंधुस्तावकीयोऽथ मित्रो वा पूर्वजन्मनः ।
अलमुपमाशतेनापि त्वद्दूषो(?) मूर्तिमानिव ॥ २२० ॥
अथवा श्रेणिकस्यायं कश्चिद्वीराग्रणीर्भटः ।
तस्यादेशवशादत्र योद्धुं वीरैः समागमत् ॥ २२१ ॥
वचस्युक्ते चरेणेत्थं कर्णगोचरतां गते ।
रोमांचितो मृगांकोऽभूदमृतैरिव सिञ्चितः ॥ २२२ ॥
ततस्तूर्णं स सज्जोऽभूद्गर्जद्दंतिदलैः समम् ।
पादाताश्वरथव्रातैर्युद्धोद्धतैः खगैरपि ॥ २२३ ॥
नेदुः संग्रामभेर्यश्च शासनान्मृगलक्ष्मणः ।
कृते युद्धस्य तत्सैन्यं निर्जगाम पुराद्बहिः ॥ २२४ ॥

१ गुप्तचरेण ।

ततो दुंदुभिनिर्घोषै रत्नचूलोऽप्यनिद्रितः ।
ज्वलितः क्रोधाग्निना योद्धुं कृतांतः कोपितः किमु ।
अथ द्वाभ्यां च सेनाभ्यामारब्धं युद्धमुल्बणम् ।
हाहाकारकरं रौद्रं कृतभीषणनिःस्वनम् ॥ २२६ ॥
दंतिनो दंतिभिः सार्धमश्वैरश्वा रथै रथाः ।
यथास्वं युयुधः सर्वे खगाश्चापि खगैः समम् ॥ २२७ ॥
यावान्सर्वोऽपि संग्रामो यादृग्जातस्तदानयोः ।
आस्तां तद्वर्णनं तावन्नाप्युद्देष्टुं क्षमा वयम् ॥ २२८ ॥
केचित्तितीर्षवो यत्र गलच्छोणितवारिधिः ।
हृदयोद्भेदसंभिन्ना नाचकर्षू रिपून् वहन् ॥ २२९ ॥
यत्रोत्थिते खुरोत्खातादंबरे रजसि स्थिते ।
धनुष्टंकारनादेन ज्ञातः प्रतिभटैर्भटः ॥ २३० ॥
सैनिकाश्वखुरोत्क्षुण्णधूलीभिश्च्छादितेऽम्बरे ।
दिनं रात्रीयते स्माथ गगनं वसुधायते ॥ २३१ ॥
ज्ञायते स्म भटा यत्र मिथस्तन्नामदेशनात् ।
रथो रथांगचीत्कारैर्घंटाटंकारितैर्गजः ॥ २३२ ॥
क्वचिद्गजानां चीत्कारो हुंकारोऽथ धनुष्मताम् ।
भटप्रचारे रेकारशब्दः प्रावर्तते क्वचित् ॥ २३३ ॥
कैश्चिद्भटैः परभटा भग्ना निर्जित्य संगरे ।
गजैर्गजा रथैर्भग्ना रथाः पद्गैश्च[1] पत्तयः ॥ २३४ ॥

---

१ पदैर्गच्छति इति पद्गः ।

सैन्यकैः परसूराणां मुखं भग्नं शितैः शरैः ।
ततः कृपाणैः कुंतैश्च मुद्गरैरथ पट्टिशैः[1] ॥ २३५ ॥
केचिच्छिन्नाः परे भिन्ना नेशुर्[2]जीवार्थिनः परे ।
कटमर्दहताः केचिदंगैः केऽपि कदर्थिताः ॥ २३६ ॥
यत्राच्छन्ने नभोमार्गे बाणव्रातैरितोऽमुतः ।
खड्गविद्युच्चमत्कारैर्दुर्दिनं ज्ञायते भटैः ॥ २३७ ॥
अलं वर्णनया चास्य जातश्चैकार्णवो महान् ।
स्वीयोऽयं परकीयोऽयं भेदः कर्तुं न शक्यते ॥ २३८ ॥
केचिदंत्राणि संवीक्ष्य निर्गतान्युदरादसुः ।
मूर्च्छाभूमिलुठत्केशा भटा दुष्कृतपाकतः ॥ २३९ ॥
काश्चित्केशान् समाकृष्य लुलावारिशिरस्तदा ।
मारयामीत्यमुं शत्रुं मत्वा धावति कश्चन ॥ २४० ॥
युद्धं चक्रुः कबंधानि[3] भीषणे यत्र संगरे ।
का कथा सशिरस्त्राणां तनुत्रैरपि संयुषाम् ॥ २४१ ॥
वायुमार्गेऽथ कुर्वंतो युद्धमुद्धतमुल्बणम् ।
कुमाररत्नचूलौ द्वौ ददर्श मृगलांछनः ॥ २४२ ॥
लीलया तच्छरासारं चिच्छेद निजसायकैः ।
अर्धचन्द्रमुखैर्जम्बूस्वामी तत्केतनं पुनः ॥ २४३ ॥
रत्नचूलस्य यद्यानं विमानं हतवान् रणे ।
अधिरोढुं समीहेत यावद् भूमिगतः खगः ॥ २४४ ॥

१ पट्टिशो लोहदंडो यस्तीक्ष्णधारः क्षुरोपमः । इति वैजयन्ती ।

२ पलायनं चक्रुः । ३ अपमूर्धं नर्त्तनक्रियायुक्तं यत्कलेवरं तत् कबन्धम् ।

तावन्मुद्गरघातेन शिरस्येनमताडयत् ।
जम्बूस्वामी महाबाहुः पिनद्धः समरांगणे ॥ २४५ ॥
वज्रसंहननोपेतो दुर्जयो वीरकर्मणि ।
अथापृच्छन्मृगांकः स हास्तिपं स्वीयमादरात् । २४६ ॥
कोऽयमापतितो भूमौ वेगात्केन पराजितः ।
अब्रवीत्सस्मितः सोऽयं न त्वं वेत्सि कथं प्रभो ॥ २४७ ॥
विद्याधीशो भवद्द्वेष्यो रत्नचूलोऽयमात्महा ।
जम्बूस्वामिकुमारेण बाणैर्जर्जरितो भृशम् ।
विमानाद्भूमिमानीतो बद्धः स्वभुजपंजरे ॥ २४८ ॥
गाढं स निगृहीतस्तु दौर्मनस्यं गतो भृशम् ।
बद्धेऽस्मिन् सैनिकास्तस्य नेशुः सर्वे दिशोदिशम् ॥ २४९ ॥
ततस्ते त्वक्त्रटै रुद्धा आनीताः स्वामिनोऽन्तिके ।
सर्वे गलितमानाश्चास्तस्थुरेत्य हतौजसः ॥ २५० ॥
तुष्टो मृगांकविद्याभृच्चक्रे जयजयारवम् ।
सर्वे विद्याधरास्तत्र शंसुर्जंबूकुमारकम् ॥ २५१ ॥
धन्योऽसि त्वं महाप्राज्ञ रूपनिर्जितमन्मथ ।
क्षात्रधर्मस्य चौन्नत्त्यमद्य जातं त्वया कृतम् ॥ २५२ ॥
नेदुरानंदतूर्याणि गर्जितानीव वारिधेः ।
मृदंगपटहादीनि सैन्ये केरलभूपतेः ॥ २५३ ॥
बंदिवृंदजयारावं चक्रुरानंदशालिनः ।
वर्णयंतो महावीर्यं कुमारस्य जयावहम् ॥ २५४ ॥

१ परिहितकञ्चुकादिः ।

व्योमगतिश्च सानंदात्कारयामास तत्क्षणे ।
प्रीतिवर्धनमत्यंतं जंबूस्वामिमृगांकयोः ॥ २५५ ॥
जयो लब्धः कुमारेण जानुलंबितबाहुना ।
सहस्राष्टमितान् हत्वा लीलया खचराधिपान् ॥ २५६ ॥
एक एव सदा सेव्यो धर्मो सौख्यमभीप्सुभिः ।
यद्विपाकात्कुमारेण जयश्रीः किंकरीकृता ॥ २५७ ॥

इति श्रीजम्बूस्वामिचरित्रे भगवच्छ्रीपश्चिमतीर्थंकरोपदेशानुसरित-
स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदपण्डितराजमल्लविरचिते
साधुपासात्मजसाधुटोडरसमभ्यर्थिते निर्जितरत्न-
चूलविद्याधरप्रतिबद्धलब्धजम्बूस्वामिवि-
जयवर्णनं नाम सप्तमः सर्गः ॥८॥

अथाष्टमः सर्गः

विजयस्वेति सद्वाक्यं पठितं स्वपुरोधसा[1] ।
मालामिव विधेहि त्वं मूर्ध्नि श्रीसाधुटोडरः ॥१॥ इत्याशीर्वादः ।
विमलं विमलज्ञानं संस्तुवे विमलाशयः ।
छन्दोभंगः अनंतं चानंतवीर्याढ्यं (नान्तवीर्योढ्यं) वंदेऽनंतगुणाप्तये
अथापश्यत्कुमारः स बीभत्सामाहवावनिम्[2] ।
भावयामास कारुण्यादनित्यां संसृतिस्थितिम् ॥ २ ॥
अहो चेद्वह्निसंयोगादुष्णीभूतं जलं क्वचित् ।
तत्किं द्रव्यं गुणापेक्षं शीतलं न स्वभावतः ॥ ३ ॥
उच्छिष्टां ज्ञानवाद्भिश्च धिगिमां संसृतिस्थितिम् ।
अमी दुर्बोधमानांधा मृत्वा वा दुर्गतिं ययुः ॥ ४ ॥
हृषीका[1]विषयासक्ताः केवलं मृतिमगुस्ततः ।
स्वयमेत्य पतंगश्च यथागाद्वह्निरोचिषि ॥ ५ ॥
अहो कथंचित्संप्राप्त....क्षाश्चापि न शांत.... ।
(प्रत्यु) त तृष्णावृद्ध्यै ते जायन्ते विषयाः स्वतः ॥ ६ ॥
आपाके कटुकं यस्य किंपाकस्य तरोः फलम् ।
त...............स्वादु बीजं भवितुमर्हति ॥ ७ ॥
अथ चेद्विषयार्त्तानां संप्राप्ता च सुखं स्वतः ।
न्यायात्कथं क्व...........श्रेयस्कराः स्मृताः ॥ ८ ॥

---

१ पुरोहितेन । २ युद्धभूमिं । १ इन्द्रियाणि ।

इदमत्रोचितं किंचिद्यत्तज्ज्ञातं निसर्गतः ।
आदानसदृशं कार्यं...........दुःखवत् ॥ ९ ॥
परं किंतु महच्चित्रं यदमी ज्ञानशालिनः ।
केचित्तानपि सेवंते परलोकजि........॥ १० ॥
अहो कोपि ग्रहो मोहो दुस्त्याज्यो महतामपि ।
यस्यानुभावतो जंतुरात्मीयं मनुते परम् ॥ ११ ॥
(मृगा) मरीचिकां पातुं धावंत्याशु जलाशया ।
तथा तथा समज्ञानादीहेत विषयात्सुखम् ॥ १२ ॥
यथा पश्य........कं कंबुकं काचकामली ।
तथायं विषयात्सौख्यं मिथ्यांधतमसां ततः ॥ १३ ॥
यथा वा वह्निशांत्यर्थमिंधनं क्षिपति द्रुतम् ।
तथा तृष्णोपशांत्यर्थमज्ञः स्याद्विषयोन्मुखः ॥ १४ ॥
अथवालमलं तेन पाटवेन वृथार्थतः ।
कुर्वतापि परादेशं निघ्नता स्वात्मनो हितम् ॥ १५ ॥
दृष्ट्वापि पतता गर्ते वृथा किं तेन चक्षुषा ।
गृह्णता विषयादींश्च तत्किं ज्ञानेन मादृशाम् ॥ १६ ॥
जानतापि मयाकारि हिंसाकर्म महत्तरम् ।
तत्केवलं प्रमादाद्वा यद्वेच्छता यशश्चयम् ॥ १८ ॥
प्राणान्तेऽपि न हंतव्यः प्राणी कश्चिदिति श्रुतिः ।
मया चाष्टसहस्रास्ते हता निर्दयचेतसा ॥ १९ ॥
आफलोदयमेवैतत्कृतं कर्म शुभाशुभम् ।
शक्यते नान्यथा कर्त्तुमातीर्थाधिपतीनपि ॥ २० ॥

यत्स्फाटिको मणिः स्वच्छः स्वभावादिति भावतः ।
सोऽप्युपाधिबलादेव रक्तपीतादिकां व्रजेत् ॥ २१ ॥
तथायं चित्स्वभावोऽपि जीवोऽतीन्द्रियसौख्यवान् ।
धत्ते मानादिनानात्वमुदयादिह कर्मणाम् ॥ २२ ॥
कुर्वन्नालोचनामित्थमास्ते यावत्कुमारकः ।
संसक्तस्तावदुच्चैस्तै रत्नचूलादिभिर्नृपैः ॥ २३ ॥
अहो द्रव्याश्रयत्वाच्च गुणा निर्गुणलक्षणाः ।
अस्त्यनिर्वचनीयोऽयं गुणवांश्च गुणस्त्वयि ॥ २४ ॥
यत्परे परसाहाय्याज्जयांशेऽपि मदोद्धताः ।
असहायबलत्वात्त्वं निर्विण्णो विजयीभवन् ॥ २५ ॥
विना च्यूतद्रुमं कोऽत्र फलितो याति नम्रताम् ।
ऋते भवादृशः सौम्य को विजित्य शमं व्रजेत् ॥ २६ ॥
इत्यालापे मिथस्तेषां स्वामी रत्नशिखाद्विषाम् ।
ऊचे गगनगत्याख्यो खगश्चाकस्मिकं स्वतः ॥ २७ ॥
स्वामिन् जम्बूकुमार त्वं यावद्युद्धेऽसि वीरहा ।
अनेनापि मृगांकेन कृतं तावत्स्वपौरुषम् ॥ २८ ॥
तत्केन वर्णितुं स्वामिन् शक्यते त्वत्पुरोऽधुना ।
परं वीरैरपि श्लाघ्यं श्रुतमध्यक्षतो मया ॥ २९ ॥
श्रुत्वा तज्जातकोपः स रत्नचूलोऽवदत् क्रुधः ।
असहिष्णुरतिक्रांतो मिथ्यावादातिभारतः ॥ ३० ॥
न तत्पराजयान्नूनं दुःखमाप खगाधिपः ।
यन्मृषाहंकृतेस्तत्र मृगांकबलशंसनात् ॥ ३१ ॥

उक्तञ्च—

“ नागुणी गुणिनं वेत्ति गुणी गुणिषु मत्सरी ।
गुणी च गुणिरागी च विरलः कोऽप्यहो महान् ॥ ३२ ॥”

अहो व्योमगते धीमन् वक्तव्यं न मृषा वचः ।
खपुष्पै रचितं वंध्यासुतशेखरसन्निभम् ॥ ३३ ॥

स्वामिजम्बूकुमारेण केवलं निर्जितो बलः ।
अजय्येऽपि मदीयोऽयं प्रचंडभुजविक्रमात् ॥ ३४ ॥

नाभविष्यदयं वीरश्चेकः संग्रामसंकटे ।
यदकारिष्याम्यहं नूनं तद्द्रक्ष्यस्त्वमंजसा ॥ ३५ ॥

कृतं शस्त्रैरुदस्त्रैश्च विद्याराधनसाधनैः ।
पदातयोऽप्यलं हंतुं त्वादृशो मामका अमी ॥ ३६ ॥

बलवानबले सज्जो यथागादुपहास्यताम् ।
बलिनापि हतो दीनो विलक्षो न तथापरः ॥ ३७ ॥

यथा वारिशिरश्छेदी सायको निहते शिवे ।
लाघवं प्राप लग्नोऽपि मृतोऽपि न तथा शिवः ॥ ३८ ॥

गौरवं[1] किंच चेदस्ति युष्मदादिषु सांप्रतम् ।
नष्टं न किंचिदद्यापि विद्यमानतयावयोः ॥ ३९ ॥

तावत्तिष्ठेत्कुमारोऽसौ मध्यस्थः कौतुकी यथा ।
साक्षात्कारीव युष्माभिर्युद्धमत्र विधीयताम् ॥ ४० ॥

वाक्यं रत्नशिखः शृण्वन् मृगांकश्चुकुपे ध्रुवम् ।
मथितोऽपीन्धनस्तूर्णं सूते धूमध्वजं[2] न किम् ॥ ४१ ॥

---

१ गर्वं । २ अग्निं ।

अस्त्वस्तु प्रमाणं यद्रत्नचूल त्वयोदितम् ।
हेम्नो (म्नः संल्ल) लक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा ॥ ४२ ॥
अधुनैव महायुद्धमावयोरुचितं पुनः ।
विलंबं मा कांक्षी (कार्षीः) क्षोभात्पिनद्धो भवसंगरे ॥ ४३ ॥
कातराणां विधिश्चैष स्वीकृतः सार्वसाक्षिकः ।
महतां हि प्रतिज्ञैव नियमो यावज्जीवनम् ॥ ४४ ॥
इति मिथो वाचसंदर्भात्स्यातां योद्धुं समुद्यतौ ।
कुमारस्तु यथास्थाने तस्थौ वाचंयमीव सः ॥ ४५ ॥
चिंतितं तत्कुमारेण किमत्र क्रियतेऽधुना ।
भूयाद्द्वयोर्यथाभाव्यं माध्यस्थ्यं मम सुंदरम् ॥ ४६ ॥
वारयामि मृगांकं चेत्तद्बलस्यापि लाघवम् ।
स्याद्यतस्तद्विपक्षोऽस्मि विपक्षो रत्नचूलकः ॥ ४७ ॥
रत्नचूले निषिद्धेऽस्मिन्नवश्यं स्यात्त (त्तु गौ) द्गौरवम् ।
स्वात्मोत्कर्षं हि पुष्णाति विज्ञस्याराधितो रिपुः ॥ ४८ ॥
अथानम्य कुमारं तं मन्यमानो यथा गुरुम् ।
रत्नचूलमृगांकौ द्वौ संसज्जौ भवतो रणे ॥ ४९ ॥
नेदुः संग्रामभेर्यश्च सन्मुखं दलयोर्द्वयोः ।
सन्नद्धास्ते भटाः सर्वे सावधाना रणे पुनः ॥ ५० ॥
पूर्ववत्तुमुलं युद्धं चक्रुर्भूयोऽपि सैनिकाः ।
दृष्ट्वा तं रौरवाकारं केचिन्मूर्च्छां गताः क्षणात् ॥ ५१ ॥
केचिद्धैर्यं समालम्ब्य कुर्वंति स्म महाहवम् ।
शितैः शस्त्रैरुदस्त्रैश्च घातयंतोऽरिमंडलम् ॥ ५२ ॥

नागैस्तत्र हता नागा अश्ववारैर्निषादिनः ।
असिकुंतशराघातैः पद्गैश्चापि पदातिकाः ॥ ५३ ॥
कारयामासतुर्युद्धं साहंकारौ परस्परम् ।
रत्नचूलमृगांकौ द्वाविव रावणराघवौ ॥ ५४ ॥
शरासारैस्तदा युद्धं द्वाभ्यां कृतमिवोल्बणम् ।
न कोऽप्यत्र द्वयोर्मध्ये जितो वाथ पराजितः ॥ ५५ ॥
तत्क्रुद्धो रत्नचूलोऽसौ मायाशुद्धमचीकरत् ।
मृगांकस्तत्क्रियायोगे सावधानोऽभवत्तदा ॥ ५६ ॥
पांशुभिः सकलं सैन्यं स चक्रे व्याकुलं तदा ।
वायव्यास्त्रेण मृगांकोऽसौ शशाम क्षणतो रजः ॥ ५७ ॥
अथ रत्नशिखेनोच्चैस्तदा वानलकीलया ।
प्रज्वालितं मृगांकस्य सैन्यं सर्वं क्षणादपि ॥ ५८ ॥
मृगांको जलवृष्ट्या तान्निर्वापयदितस्ततः ।
इत्यादि सुचिरं सोऽपि वैरिणा युयुधे भृशम् ॥ ५९ ॥
नागपाशैस्ततो बद्ध्वा मृगांकं बलवत्तरः ।
रत्नचूलः खगेशानो संतुष्टहृदयोऽभवत् ॥ ६० ॥
ततोऽसौ विजयीभूत्वा बद्ध्वा तं दृढबंधनैः ।
कुशलं गंतुकामोऽपि वारितः स्वामिना भृशम् ॥ ६१ ॥
रे रे मूढ क यासि त्वं नीत्वैनं मृगलांछनम् ।
मयि विद्यति भूपीठे को हि द्रष्टुमतिक्षमः ॥ ६२ ॥
कः क्षमः शेषमूर्द्धस्थमादातुं मणिमुत्तमम् ।
कालवक्त्रादिहात्मानं को वा त्रातुं समीहते ॥ ६३ ॥

१ अर्चिषा ।

पाणिना वा महामेरुं कश्चालयितुमिच्छति ।
स्वप्त्वा वा सिंहशय्यायां कश्चोल्लाघः सुखं व्रजेत् ॥ ६४ ॥
तथा त्वं मामतिक्रम्य भद्रं यास्यसि सद्मनि ।
इदमेव महच्चित्रं व्रीडया नावृतो यतः ॥ ६५ ॥
वदत्येवं कुमारेऽस्मिन् जम्बूस्वामिनि संगरे ।
सन्मुखीभूय सन्तस्थौ योद्धुं रत्नशिखस्तदा ॥ ६६ ॥
अथोवाच कुमारोऽसौ रत्नचूलं खगं प्रति ।
आवाभ्यां केवलं युद्धं विधेयं किमथापरैः ॥ ६७ ॥
ततः सर्वान्समुत्सार्य सैनिकांश्च महाभटान् ।
द्वावेव तस्थतुः सज्जौ कर्तुं संग्राममुद्यतौ ॥ ६८ ॥
ततो युद्धमभूद्घोरं द्वयोः शस्त्रैश्च दारुणैः ।
नानाविधैर्महातीक्ष्णैरन्योन्यं जयकांक्षिणोः ॥ ६९ ॥
मुमोच रत्नचूलोऽसौ नागास्त्रं स्वामिनं प्रति ।
न्यक्कृतं तत्कुमारेण गारुडास्त्रेण तत्क्षणात् ॥ ७० ॥
पुनः कोपोपरक्तः सन्नग्निबाणं ससर्ज सः ।
प्रशशाम तदा वेगात्कुमारो जलवृष्टिभिः ॥ ७१ ॥
पुनस्तोमरघातेन हतो रत्नशिखो यदा ।
तदा हंतुं कुमारं स चक्रं जग्राह बाहुना ॥ ७२ ॥
यावन्मोक्तुं स शक्नोति चक्रं रत्नशिखः खगः ।
तावद्वेगात्कुमारेण क्षिप्तो बाणो जवाद्रिपौ ॥ ७३ ॥
तेन बाणेन तच्चक्रं खंडितं तीक्ष्णहेतिना ।
न्यपतत्तद्रजः स्कंधे विद्युद्घातादिव द्रुतम् ॥ ७४ ॥

तद्घाताच्चूर्णमानांगं नागं वीक्ष्य खगेश्वरः ।
भूमाववततारासौ कुंतहस्तश्च कोपवान् ॥ ७५ ॥
तावज्जम्बूकुमारेण क्षणादुत्तीर्य दंतिनः ।
हत्वा मुष्टिप्रहारेण पातितः पृथिवीतले ॥ ७६ ॥
त्यक्तमानधनः सोऽयं जीवन्नारोप्य दंतिनि ।
रत्नचूलः कुमारेण बलाद्बद्धो खगाधिराट् ॥ ७७ ॥
तदसौ मुमुचे तूर्णं मृगांकं बंधनालयात् ।
व्यभ्रे व्योम्नि शरत्काले यथादित्यो घनात्यये ॥ ७८ ॥
पुष्पवृष्टिं सुरास्तेनुः कुमारजयशंसिनः ।
दिशो दुंदुभिनादेन पूरयंतो नभोङ्गणे ॥ ७९ ॥
चक्रुर्जयजयारावं सर्वे ते त्रिदशादयः ।
अहो पुण्यद्रुमात्स्वादु फलं सर्वा हि संपदः ॥ ८० ॥
अथ प्रवेशयामासुः कुमारं केरलां प्रति ।
तौर्यत्रिकमहानादैर्मृगांकादिक्षितीश्वराः ॥ ८१ ॥
यदाप परमानंदं खगो व्योमगतिस्तदा ।
स्तोतुं न शक्यते सर्वो निरवशेषतया मया ॥ ८२ ॥
अथ पौरस्त्रियस्तत्र पीनस्तनभरानताः ।
चिक्षिपुः सुमनान्युच्चैः कुमारमनुरागतः ॥ ८३ ॥
काश्चित्पौरांगनास्तत्र जजल्पुश्च परस्परम् ।
काश्चित्तन्मंगलोद्गीतिं गायंति स्म मुदान्विताः ॥ ८४ ॥
सखे दर्शय मामाशु नाम्ना जम्बूकुमारकम् ।
हेलया निर्जितो येन रत्नचूलखगाधिपः ॥ ८५ ॥

काचिद्वदति धन्योऽयं जीयाच्चिरतरं जयी ।
अस्माकं येन सौभाग्यं रक्षितं निघ्नता रिपून् ॥ ८६ ॥
अहो जिनमती धन्या सार्हद्दासस्य भामिनी ।
दशमासान् यया गर्भे धृतोऽयं सिंहविक्रमः ॥ ८७ ॥
धन्यः स श्रेणिको भूपो यस्यैतादृग्भटोत्तमः ।
एकोऽप्यलं सहस्राणां भटानां मानहानये ॥ ८८ ॥
अथ्यापणमहावीथ्यां शोभां वणिक्सुतैः कृताम् ।
पश्यन् स्वामी जगामाशु तोरणं[1] नृपसद्मनः ॥ ८९ ॥
तत्र शोभातिशायित्वं निर्वृत्तं[2] मणिमौक्तिकैः ।
दर्शं दर्शं कुमारोऽसौ क्षणं तस्थौ स कौतुकी ॥ ९० ॥
ततः शनैः शनैर्गच्छन् प्रविष्टो नृपमंदिरे ।
आतन्वन् जगदानंदं सौन्दर्य (स्य) सुधांशुभिः ॥ ९१ ॥
नीत्वा तत्र मृगांकस्तं क्रियां सन्मज्जनादिकाम् ।
उचितां दासवच्चक्रे प्रश्रयाद्वीतमत्सरः ॥ ९२ ॥
सर्वं यद्रसवद्भोज्यं मृदुस्निग्धं सुशोभनम् ।
मृगांकोऽप्यर्पयामास भुक्तये स्वामिनः पुरः ॥ ९३ ॥
भुक्तं जम्बूकुमारेण नानाव्यंजनसंस्कृतम् ।
भोजनं स्वादु संमिष्टं पूतं पुण्यफलादिवत् ॥ ९४ ॥
ततः कर्पूरतांबूलैश्चंदनादिद्रवैरपि ।
अर्चितोऽसौ मृगांकेण प्रीत्या सत्कारगौरवात् ॥ ९५ ॥
अथ मध्येसभं स्थित्वा कुमारः करुणापरः ।
कारालयान्मुमोचामुं रत्नचूलं खगेश्वरम् ॥ ९६ ॥

१ तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारं इत्यमरः । २ रचितम् ।

अपि च कोमलालापैः सूक्तिसंदर्भगर्भितैः ।
खगं संतोषयामास कुमारो मारगौरवः ॥ ९७ ॥
जयपराजयौ स्यातां कुर्वतां युद्धमाहवे ।
विषादं खग मा कार्षीर्धर्मः पुंसां निसर्गतः ॥ ९८ ॥
गच्छ गच्छ यथास्थानं स्वसद्मन्यपि निर्भयात् ।
वेष्टितश्च परीवारैः स्वीयैः स्वीयसुखाप्तये ॥ ९९ ॥
अवादीद्रत्नचूलोऽपि कुमारं प्रति मार्दवात् ।
स्वामिन् गत्वा त्वया सार्धं द्रष्टुमिच्छामि श्रेणिकम् ॥ १०० ॥
स्थित्वा तत्र कुमारेण केषुचिद्वासरेषु च ।
ततो विमानमारुह्य प्रस्थितः श्रेणिकं प्रति ॥ १०१ ॥
प्रतस्थेऽस्मिन् मृगांकोऽपि प्रतस्थे सकलत्रकः ।
आदायोद्वाहितुं कन्यां तां विशालवतीं सतीम् ॥ १०२ ॥
तयोः सार्धं समादाय रत्नचूलोऽपि भक्तिमान् ।
चलति स्म विमानैः स्वैरमा पंचशतैः शुभैः ॥ १०३ ॥
खगो गगनगत्याख्यो मुदा निर्भरमानसः ।
अन्वगात्स कुमारं तं स्वविमानमधिष्ठितः ॥ १०४ ॥
अलंचक्रुर्दिशां चक्रं विमानैर्व्योमगा इमे ।
किमेतदिति भूपालैराकुलं वीक्षितं जवात् ॥ १०५ ॥
ते सर्वे सकुमाराश्च संसेदुः कुरलाचलम् ।
यत्रास्ति श्रेणिको भूपो राजमंडलमंडितः ॥ १०६ ॥
अथोत्तीर्य विमानानि स्थापयित्वा नभोङ्गणे ।
आनताः श्रेणिकं सर्वे ते मृगांकादयः खगाः ॥ १०७ ॥

१ प्रापुः ।

श्रेणिकोऽपि ततस्तूर्णं समुत्थाय निजासनात् ।
आलिलिंग कुमारं तमुत्सुकः परमादरात् ॥ १०८ ॥
साधु साधु मया दृष्टो यच्चिरादपि भो भवन् ।
त्वयि दृष्टे महान् हर्षो जातो मे हृदि संप्रति ॥ १०९ ॥
ततो गगनगत्याख्यस्तद्वृत्तांतमचीकथत् ।
यथावृत्तं द्वयोरेव तत्तथा श्रेणिकं प्रति ॥ ११० ॥
ततोऽसौ दर्शयामास संज्ञया हस्तसंज्ञया ।
तत्तन्नामविशिष्टं वा तं तं व्योमगतिः खगम् ॥ १११ ॥
एष देव मृगांकोऽयं ददौ ते तनयां निजाम् ।
एषास्य महती भार्या नाम्ना स्यान्मालतीलता ॥ ११२ ॥
एष रत्नशिखो नाम्ना ख्यातो विद्याधराग्रणीः ।
निर्जितो यः कुमारेण दुर्जयो महतामपि ॥ ११३ ॥
श्रुत्वेदं तन्मुखाद्राजा स लेभे निर्वृतिं पराम् ।
यथा चंद्रोदये सिंधुर्वृद्धिमाप सहांभसा ॥ ११४ ॥
स्तुतिं चक्रे कुमारस्य श्रेणिकश्च मुहुर्मुहुः ।
निसर्गान्मृदुभाषित्वं राज्ञि तूपकृतौ न किम् ॥ ११५ ॥
परिणीताथ मृगांकस्य तनया सा वरांचिता ।
या विशालवती नाम्ना श्रेणिकस्य कृतेऽर्पिता ॥ ११६ ॥
ततश्चोद्वहकल्याणे नृत्यं तेनुः खगेश्वराः ।
कामिन्यो गजगामिन्यो गायंति स्म समंगलम् ॥ ११७ ॥
मैत्रीभावो द्वयोश्चापि रत्नचूलमृगांकयोः ।
मिथः कारापितस्तेन श्रेणिकेन महौजसा ॥ ११८ ॥

समाधाय खगेशौ द्वौ राज्ञा सन्मानदानतः ।
प्रेषितौ तौ यथास्थानं स्वालयं स्वालयं प्रति ॥ ११९ ॥
खगो गगनगत्याख्यः सत्कृतश्च पुनः पुनः ।
निजधाम जगामाशु स्वामिधर्मपरायणः ॥ १२० ॥
अथ प्रतस्थे भूमीशो पुरं राजगृहं प्रति ।
तां विशालवतीं नीत्वा सानंदो मगधाधिपः ॥ १२१ ॥
उल्लंघ्य महीपालो विंध्याचलमहाटवीम् ।
तां विशालवतीं वैन्यान् दर्शयन्निव कौतुकी ॥ १२२ ॥
हे मृगाक्षि निरीक्षस्व मृगयूथानितोऽमुतः ।
स्पर्द्धां कर्तुं समायातास्त्वन्नेत्रैः सममंजसा ॥ १२३ ॥
अवलोकय बाले त्वं सुन्दरान्गजयूथपान् ।
यद्गमेननोपमीयेत त्वद्गतिर्लीलयानया ॥ १२४ ॥
इतः केशरिणं पश्य वलगंतं तं तनूदरि ।
यस्त्वया निर्जितो नूनं कटिदेशे सुशोभया ॥ १२५ ॥
इतो वराहान् पश्याशु वराहारपयोधरे ।
उत्खातमस्तकानेवं मुखं व्यादाय भक्षकान् ॥ १२६ ॥
विशालाक्षि निरीक्षस्व कपिवृंदानपीह तान् ।
तव चित्तचमत्कारैर्निर्जिता ये निसर्गतः ॥ १२७ ॥
कोकिलायाः कलालापमाकर्णय पिकस्वने ।
यस्त्वया मधुरध्वानैर्वनांतेऽपि तिरस्कृतः ॥ १२८ ॥
इतो हंसरुतं पार्श्वे श्रूयतां मृदुभाषिणि ।
अनुनेतुं वरटां स्वां कुर्वश्चाटूनि सस्मरम् ॥ १२९ ॥

१ वनवृक्षान् । २ हंसस्य योषिद्वरटा ।

बकपंक्तिं निरीक्षस्व सरस्तीरेषु सुंदरि ।
त्वत्कंठालंबिनी माला यथा (सु) स्त्रमनसां त्वयि ॥ १३० ॥
इतश्चक्रयुगं पश्य चकोराक्षि विलक्षताम् ।
गतं त्वद्वदनं वीक्ष्य चन्द्रोदयविशंकया ॥ १३१ ॥
चातकध्वानिमाराद्वै शृणु स्नेहानुकारिणीम् ।
रटंतं परमप्रीत्या बहुशोऽपि प्रिये प्रिये ॥ १३२ ॥
मंजरीं पिंजरां पश्य मुग्धे चूतद्रुमावलीम् ।
तव कर्णावतंसाभ्यां स्पर्द्धमानां सुकोरकैः ॥ १३३ ॥
गुंजद्विरेफवृंदानि पश्य पश्य वनांतरे ।
त्वद्गुणस्तोत्ररूपाणि लिखितान्यक्षराणि वै ॥ १३४ ॥
दूराददो वनं पश्य केकि[1]केकारवाकुलम् ।
सेनारजश्चयाकीर्णं घनागमसुशंकया ॥ १३५ ॥
इतः पश्य सरोजालिं प्रफुल्लेन्दीवरानने ।
शोभमानां द्विरेफैश्च त्वदाननजिहासया ॥ १३६ ॥
अयि पल्लवितां वल्लीमक्षगोचरतां नय ।
त्वन्मृदुकरसंस्पर्द्धां कुर्वतीं स्वदलैरिति ॥ १३७ ॥
कांते कांतिजुषश्चैतान् पश्य सुमनसां चयान् ।
त्वन्मुखामोदमादाय दधतः श्रियमुत्तमाम् ॥ १३८ ॥
इतिप्रभृतिमार्गाणां शोभां संदर्शयन्नयम् ।
प्रियायै श्रेणिको भूपः प्राप राजगृहं पुरम् ॥ १३९ ॥
तत्राप्युपवने धीमान् क्षणं तस्थौ ससैनिकः ।
ददर्शाथ मुनिं नाम्ना सौधर्मं धर्मतत्परम् ॥ १४० ॥

१ केका वाणी मयूरस्य ।

धर्मोपदेशनिरतं शिष्यैः पंचशतैर्वृतम् ।
अवबोधचतुष्कैश्च पूर्णं स्वप्रतिभान्वितम् ॥ १४१ ॥
वंदति स्म महाभागस्त्रिपरीत्य त्रिशुद्धितः ।
मुनिं सार्धं कुमारेण सकलत्रो नरेश्वरः ॥ १४२ ॥
भूपस्तद्दर्शनान्नूनं मन्यमानः कृतार्थताम् ।
निजधाम्नि प्रवेशाय चचाल पृतनावृतः ॥ १४३ ॥
विशन् राजगृहे राजा शोभया शुशुभेतराम् ।
सार्द्धं जयश्रिया चापि राज्यलक्ष्म्या न केवलम् ॥ १४४ ॥
धर्मकल्पद्रुमः सेव्यः किमन्यैर्बहुजल्पितैः ।
यत्पाकादर्थकामादिफलं स्यात्पावनं महत् ॥ १४५ ॥

इति श्रीजम्बूस्वामिचरिते भगवच्छ्रीपश्चिमतीर्थकरोपदेशानुसारित-स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदपण्डितराजमल्लविरचिते साधु-पासासुतसाधुटोडरसमभ्यर्थिते जम्बूस्वामिश्रेणिक-महाराजराजगृहप्रवेशवर्णनो नाम षष्ठः पूर्वः । सर्गः अष्टमः

अथ सप्तमः पर्वः ।

भवतु भावशुद्ध्यर्थं स्वभावो भवहानये ।
धर्मे धर्मफले रागस्तव श्रीसाधुटोडर ॥ १ ॥ इत्याशीर्वादः ।

धर्मनाथं स्तुवे धर्मतीर्थेशं धर्मसिद्धये ।
शांतिनाथं पुनर्नौमि शांतये चाष्टकर्मणाम् ॥ १ ॥

अथ जम्बूकुमारेण चिंतितं निजमानसे ।
कुतः पुण्योदयादेतन्मया लब्धं यशोधनम् ॥ २ ॥
तत्सर्वं प्रश्नयात्प्रष्टुमागतो मुनिसंनिधौ ।
तं प्रणम्योपविष्टश्च विनयावनताननः ॥ ३ ॥
भो मुने कृपया किंचिद्ब्रूहि मे संशयच्छिदे ।
कोऽहं कुतः समायातः कस्मात्पुण्यविपाकतः ॥ ४ ॥
जन्मांतरस्य वृत्तांतं ज्ञातुमिच्छामि त्वन्मुखात् ।
त्वमुपेक्षापरः स्वामिन् निस्पृहः सुखदुःखयोः ॥ ५ ॥
शत्रौ मित्रे समानस्त्वं जीवने मरणे समः ।
स्तुतिनिंदासमः सौम्यो वास्यां वा हरिचंदने ॥ ६ ॥
त्वं निस्तारी भवावर्तात्त्वं मुने भक्तवत्सलः ।
जीवन्मुक्तस्त्वमेवासि कृपालुः सर्वजंतुषु ॥ ७ ॥
अथोवाच मुनिर्नाम्ना सौधर्मो धर्मदेशकः ।
शृणु वत्स वदेते(?)ऽद्य वृत्तांतं पूर्वजन्मनः ॥ ८ ॥

इहैव मगधे देशे वर्द्धमानाभिधो वरः ।
ग्रामोऽस्ति तत्र विप्रौ द्वौ स्यातामासन्नभव्यकौ ॥ ९ ॥
भावदेवस्तु ज्येष्ठः स्याल्लघीयान् भवदेवकः ।
क्रमादादाय दीक्षां तौ जैनीं सर्वसुखप्रदाम् ॥ १० ॥
सन्न्यासे मरणं कृत्वा स्वर्गलक्ष्मीस्वयंवरौ ।
जातौ सनत्कुमाराख्ये द्वावेतौ त्रिदशालये ॥ ११ ॥
स्वायुरंते ततश्च्युत्वा समुत्पन्नौ यथाक्रमात् ।
वज्रदंतनृपस्य स्यात्सूनुः सागरचन्द्रमाः ॥ १२ ॥
भावदेवचरः सोऽयमाद्यो भ्राता द्विजोत्तमः ।
लघीयानपि संजातो भवदेवचरश्च यः ॥ १३ ॥
चक्रवर्ती महापद्मो विख्यातः स्वाख्यया भुवि ।
तत्पुत्रोऽजनि माहात्म्यान्नाम्ना शिवकुमारकः ॥ १४ ॥
तत्राप्युभौ तदादाय व्रतं घोरतपोऽन्वितम् ।
अंते समाधिना मृत्वा जातौ ब्रह्मोत्तरेऽमरौ ॥ १५ ॥
विमाने श्रीप्रभे जाते भवदेवचरो द्विजः ।
भावदेवः समुत्पन्नो जलकांताभिधेऽमरः ॥ १६ ॥
दशसागरपर्यंतं भुक्त्वा भोगान्निरंतरम् ।
स्वायुरंते ततश्चापि समुत्पन्नो हि भारते ॥ १७ ॥
इहैव मगधे देशे नगरालीविराजिते ।
जैनधर्मास्पदे रम्ये मुनिवृंदसमन्विते ॥ १८ ॥
संवाहनपुरं नाम्ना तत्रास्ति नगरं वरम् ।
सौधपंक्तिभिराळीढं वरस्त्रीभिर्विभूषितम् ॥ १९ ॥

भूपतिस्तत्र नाम्नापि सुप्रतिष्ठः प्रतिष्ठते ।
जैनधर्मसरोजालिं चुम्बितुं षट्पदोपमः ॥ २० ॥
भार्या रूपवती तस्य नाम्ना धर्मसमन्विता ।
पट्टबद्धा सुशीलाढ्या सौन्दर्यगुणशालिनी ॥ २१ ॥
भावदेवचरो ज्यायान् योऽयं भूत्वाऽमरो दिवि ।
भूत्वा सागरचंद्रश्च सोऽयं तस्य सुतोऽजनि ॥ २२ ॥
सौधर्म इति नाम्नापि राज्ञः ख्यातः स बंधुना ।
क्रमाद्वृद्धिं समासाद्य जातो निःशेषशास्त्रवित् ॥ २३ ॥
कुमारावस्थया यावत्तिष्ठेत्स्वकुलदीपकः ।
अथान्येद्युः स धात्रीशः सुप्रतिष्ठः कलत्रयुक् ॥ २४ ॥
समवादिसृतिं भूमिं प्राप्तो वीरस्य वंदितुम् ।
वर्द्धमानमुखात्तत्र श्रुत्वा धर्मोपदेशनाम् ।
सद्यश्चोत्पन्ननिर्वेदो भोगेभ्यश्च परान्मुखः ॥ २५ ॥
भावयामास स्वे चित्ते संसारासारतां चलाम् ।
क्षणिकत्वाद्धनादीनां वारिबुद्बुदसन्निभाम् ॥ २६ ॥
दीक्षां जग्राह नैर्ग्रंथीं स्वर्गमुक्तिसुखप्रदाम् ।
सर्वसंगविमुक्तात्मा हानये चाष्टकर्मणाम् ॥ २७ ॥
दिवसैः कतिभिर्भिक्षुः श्रुतपूर्णोऽभवन्मुनिः ।
गणधरस्तुर्यो जातो वर्द्धमानजिनेशिनः ॥ २८ ॥
सौधर्मोऽपि तथा पश्चाद्वीक्ष्य तं गणनायकम् ।
जातसंवेगनिर्वेदः प्रवव्राज महामुनिः ॥ २९ ॥
क्रमात्सोऽप्यभवत्तस्य पंचमो गणनायकः ।
सोऽहं सुधर्म्मनामा स्यां भवद्भ्रातृचरोऽधुना ॥ ३० ॥

यो ज्यायान् भावदेवोऽभूद्भवांस्तु भवदेवकः ।
एवं भवांतराख्यानं जानीहि त्वं सुनिश्चयात् ॥ ३१ ॥
वत्स कर्मवशाज्जीवा भाववर्त्ते भ्रमंति हि ।
अलभ्यमानाः स्वात्मीयं भावं कर्मविनाशकम् ॥ ३२ ॥
त्वं हि ततो दिवश्च्युत्वा विद्युन्मालिचरोऽमरः ।
अर्हद्दासगृहे सूनुर्जातः सर्वसुखाकरः ॥ ३३ ॥
याश्चतस्रोऽपि त्वद्देव्यः क्रमादनुपरिच्युताः ।
जातास्तास्तनया नूनं वार्द्धिदत्तादिश्रेष्ठिनाम् ॥ ३४ ॥
ताश्चतस्रोऽपि त्वद्भार्या भविष्यंति विवाहिताः ।
पूर्वस्नेहानुकारिण्यो भवंतं प्रति सोत्सुकाः ॥ ३५ ॥
श्रुत्वा भवांतरं स्वस्य साक्षात्कारिमुनेर्मुखात् ।
प्रवृद्धवीरवैराग्यो जम्बूस्वामिकुमारकः ॥ ३६ ॥
मुनिमुद्दिश्य विज्ञप्तिमकरोद्विनयानतः ।
प्रतिबुद्धः कुमारोऽसौ निर्विण्णो भवदेहयोः ॥ ३७ ॥
मुने निर्व्याजबंधुस्त्वं जातश्चोद्धरणे मम ।
तथाद्यापि कृपानाथ मामुद्धर भवार्णवात् ॥ ३८ ॥
प्रसादं कुरु मे दीक्षां देहि नैर्ग्रंथ्यलक्षणाम् ।
निस्पृहस्य तु भोगेभ्यः सस्पृहस्यात्मदर्शने ॥ ३९ ॥
आकर्ण्येदं वचस्तस्य कुमारस्य महामुनिः ।
ऊचे साम्नैव तच्चेतःसमाधानकरं वचः ॥ ४० ॥
जानन्नप्यवधिज्ञानाद्बालमासन्नभव्यकम् ।
भाषासमितिसंशुद्ध्यै जगौ कोमलया गिरा ॥ ४१ ॥

अवस्थेयं क्व ते वत्स वयोलीलानुसारिणी ।
क्वेदं दीक्षाश्रमं सौम्य दुर्द्धरं महतामपि ॥ ४२ ॥
अथ चेत्सर्वथोत्कंठा वर्तते तव चेतसि ।
एकशः स्वगृहे गत्वा कुरु कृत्यं मयोदितम् ॥ ४३ ॥
बंधुवर्गं समाहूय समापृच्छ्याथ गौरवात् ।
समाधानतया कृत्वा क्षंतव्यं च परस्परम् ॥ ४४ ॥
पश्चाद्गृहाण नैर्ग्रंथीं दीक्षां कर्मक्षयंकराम् ।
एष क्रमः समाम्नायात्स्वीकृतः पूर्वसूरिभिः ॥ ४५ ॥
श्रुत्वा जम्बूकुमारोऽसौ प्रोक्तं सौधर्मसूरिणा ।
चिंतयामास स्वे चित्ते किं कर्तव्यं मयाधुना ॥ ४६ ॥
चेत्सद्मनि न गच्छेयमहं स्वात्महठादिह ।
गुरोराज्ञाविलोपः स्यात्स न श्रेयस्करः स्वतः ॥ ४७ ॥
ततोऽवश्यं हि गंतव्यं मया स्वात्मालये जवात् ।
पश्चादागत्य दीक्षां तां गृहीष्यामि तपोन्विताम् ॥ ४८ ॥
निश्चित्येतन्नमस्कृत्य गुरुं सौधर्मसंज्ञकम् ।
जम्बूस्वामिकुमारोऽसौ जगामाशु निजालयम् ॥ ४९ ॥
गत्वाथ त्वरितं तत्र वार्तां जिनमतीं प्रति ।
निश्छद्मतः स्वचित्तोत्थां सर्वां तामप्यचीकथत् ॥ ५० ॥
मातर्नूनं विजानीहि निर्विण्णोऽहं भवादिति ।
इतः पाणिपुटाहारं कर्तव्यं मयका (हि मया) शुचि ॥ ५१ ॥
चकंपे श्रुतमात्रेण माता जिनमती सती ।
पवनेनेरिता वेगाद्धिमदग्धेव पद्मिनी ॥ ५२ ॥

अहो पुत्र किमाख्यातं वज्रसंपातनिष्ठुरम् ।
कारणं किमकस्मात्स्यादत्र कार्यनिदर्शने ॥ ५३ ॥
अत्रोत्तरप्रदानेन समाधानचिकीर्षया ।
कथितानि कुमारेण मुनिवाक्यानि तानि वै ॥ ५४ ॥
श्रुत्वा जिनमती तस्मात्तद्वर्वांतरवार्त्तिकम् ।
धर्मबुद्धितया किंचित्समाधानमुपाददे ॥ ५५ ॥
सार्हद्दासाग्रतः सर्वं वृत्तांतं गदति स्म वै ।
चरमांगी कुमारोऽयं जैनीं दीक्षां जिघृक्षति ॥ ५६ ॥
अर्हद्दासो विशम्यैतन्मूर्छां प्राप्तः क्षणादिति ।
महामोहोदयादेव हाहाकारं रटन्निति ॥ ५७ ॥
ततः कथंचित्सोपायैरुत्थितोऽपि वणिक्पतिः ।
विललाप यथात्यर्थं तथा को वर्णयेत्कविः ॥ ५८ ॥
अर्हद्दासेन तत्क्षिप्रं कश्चिद्वाग्मी विचक्षणः ।
प्रेषितस्तत्कथां प्रोक्तुं वार्द्धिदत्तादिसद्मनि ॥ ५९ ॥
आदिष्टस्त्वरितं गत्वा स संदेशहरः[1] सुधीः ।
सर्वं निवेदयामास यथासर्वसमक्षकम् ॥ ६० ॥
अहो दुर्दैवमस्माकं यद्युष्मत्समसज्जनाः ।
प्राप्ताश्चापि वनप्राप्ता विघ्नकर्मोदयादिह ॥ ६१ ॥
आकर्ण्येदं वचस्तीक्ष्णं दुःखदं शस्त्रपातवत् ।
श्रेष्ठिनस्ते महाभीतेश्चत्वारोऽपि चकंपिरे ॥ ६२ ॥
द्रवंति स्म शुचाक्रांताः क्षणं विस्मितमानसाः ।
किमन्यत्र कुमारोऽयमुद्वहं कर्त्तुमिच्छति ॥ ६३ ॥

---

१ दूतः ।

तावत्स एव संपृष्टः श्रेष्ठिभिस्तैर्महाकुलैः ।
वद सौम्य वचस्तथ्यं कारणं किमिहात्र भो ॥ ६४ ॥
स संदेशहरोऽवादीच्चातुर्यतरया गिरा ।
अहो स्वामिकुमारोऽयं तितीर्षुर्भववारिधेः ॥ ६५ ॥
निश्चयात्कामभोगेभ्यो निस्पृहो दुःखभीरुकः ।
सस्पृहो मुक्तिकामिन्यां जैनीं दीक्षां ग्रहीष्यति ॥ ६६ ॥
श्रुत्वा ते वणिजां नाथाः क्षणाद्वैलक्षतां गताः ।
बोधयितुं[1] स्वकन्यास्ता ययुर्व्याजान्निजालयम् ॥ ६७ ॥
तत्र गत्वा समाहूय नीताश्चाप्यनुशासितुम् ।
ताः कन्याः कुलशीलत्वं न जहुर्लेशतास्त्रिधा ॥ ६८ ॥
पुत्रि जम्बूकुमारोऽयं श्रूयते भोगनिस्पृहः ।
व्रतान्यादातुमीहेत तपःपूर्वाणि मुक्तये ॥ ६९ ॥
तद्गृह्णातु यथाकामं[2] का नो हानिस्तु सांप्रतम् ।
भवतीनां समुद्वाहे भवेच्चाद्य वरोऽपरः ॥ ७० ॥
निशम्यैतत्पितुर्वाक्यं पद्मश्रीः कंपिता तदा ।
प्रमादाद्वा कथंचिद्वै प्राणिहत्येव योगिराट् ॥ ७१ ॥
तात मा वद दुर्वाचमंतर्व्रीडाकरां मयि ।
प्राणांतेऽपि न कर्तव्या क्रमहानिर्महात्मभिः ॥ ७२ ॥
एक एव यथा देवः सर्वदोषविवर्जितः ।
अर्हान्निति त (स) दाख्यातो धर्मश्चैको महात्मनाम् ॥ ७३ ॥
तथा जम्बूकुमारोऽयं भर्ता चैको हि मामकः ।
नापरः कश्चिदेवातो नियमो मे निसर्गतः ॥ ७४ ॥

---

१ शिक्षां दातुं । २ यथाभिलाषं ।

धिग्भोगान्विषयोत्पन्नानिन्द्रजालोपमानिह ।
पतौ गच्छति दीक्षायै वयं तूपपतौ रताः ॥ ७५ ॥
अथ चेद्भाविनी सेयं भोगसंपदनीदृशी ।
अस्माकं भाग्यसंयोगादयं स्थास्यति सद्मनि ॥ ७६ ॥
यदि भोगांतरायस्य कर्मणो मे विपाकतः ।
वारितो बहुधोपायैरयं गंता तपोवने ॥ ७७ ॥
तदापि न मनस्तापो भविता मे सुनिश्चयात् ।
नान्यथा शक्यते कर्तुं यद्भाव्यं तद्भविष्यति ॥ ७८ ॥
अलमत्र बहूक्तेन तात वाचंयमी भव ।
सर्वथा पतिरेको मे जम्बूस्वामिकुमारकः ॥ ७९ ॥
श्रुत्वा सागरदत्ताख्यः श्रेष्ठी पुत्रिवचस्ततिम् ।
सर्वं निवेदयामास तं संदेशहरं प्रति ॥ ८० ॥
श्रुत्वा वचोहरश्चापि गत्वा श्रेष्ठिनिजालये ।
जगाद सर्वतस्तत्त्वं यथा कन्याकथानकम् ॥ ८१ ॥
अथ चादृश्यतां गच्छन् भानुरस्ताचलं श्रितः ।
अहो न क्षमका द्रष्टुं संतः परविपत्तयः ॥ ८२ ॥
इति कर्तव्यतामूढः सोऽर्हद्दासो वणिक्पतिः ।
गत्वा प्रति कुमारं तं विज्ञप्तिमकरोत्कृती ॥ ८३ ॥
एकमेव दिनं वत्स विवाहानंतरं तव ।
त्वया ताभिः सहास्थानं कर्तव्यं चैकशः किल ॥ ८४ ॥
मामकीं प्रार्थनां पुत्र मामोघां विधेहि भो ।
पश्चाद्यद्रोचते तुभ्यं तत्तद्यथा विधीयताम् ॥ ८५ ॥

निरीहोऽपि कुमारः स पितुरत्याग्रहात्तदा ।
तथेत्युवाच तात त्वं मा विषादीः स्वचेतसि ॥ ८६ ॥
ततो मांगल्यतूर्याणि पंचानां श्रेष्ठिनां गृहे ।
नेदुरानंदभेर्यश्च पूरिताशामुखा जवात् ॥ ८७ ॥
कलगीतानि कामिन्यो गायंति स्म मुदान्विताः ।
संत्रस्तमृगनेत्रास्ताः पीनोन्नतपयोधराः ॥ ८८ ॥
उद्वाहोचितसामग्री या काचन प्रसिद्धितः ।
तया सह चचालासावश्वारूढः कुमारकः ॥ ८९ ॥
ध्वनद्भिर्वाद्यसंघैश्च बंदिवृंदैः सुशब्दकैः ।
पठद्भिस्तद्यशोध्वानं नृत्यद्भिर्नर्तकीजनैः ॥ ९० ॥
पौरांगणादिसल्लोकैर्दृश्यमानः पदे पदे ।
प्राप जम्बूकुमारश्च वार्द्धिदत्तस्य सद्मनि ॥ ९१ ॥
उत्तीर्य तुरगात्तूर्णमुपविष्टश्चतुष्किकाम् ।
मेघगंभीरनिस्वानो धीरो मंदरकंठवत् ॥ ९२ ॥
अथानीताभिरत्यर्थमुद्वाहस्य कृते कृती ।
करग्रहमनिच्छोऽपि प्रेच्छेद्विधिवशात्स हि ॥ ९३ ॥
विवाहानंतरं सर्वं स्वर्णरत्नादिपावनम् ।
दत्तं सागरदत्ताद्यैर्दानीयं यद्वरोचितम् ॥ ९४ ॥
पट्टकूलानि श्लक्ष्णानि विचित्राणि वि (व) स्त्राणि च ।
वरायादुर्दुहिता (तृ) भ्यो मणिमुक्ताप्रवालकान् ॥ ९५ ॥
सत्कर्पूरसुमिश्राणि कुंकुमादीनि सन्मुदे ।
पल्यंकासनयानादिवस्तूनि वणिजो ददुः ॥ ९६ ॥

हस्त्यश्वधनधान्यादिदासीदासादिकं तथा ।
यदुत्तमं गृहे किंचित्तत्सर्वं स्वामिने ददुः ॥ ९७ ॥
तदादाय स कन्याभिः संबद्धवसनांचलः ।
रजन्यां सहकांताभिर्नानाविधमहोत्सवैः ॥ ९८ ॥
पठद्भिर्बंदिवृंदैश्च नृत्यद्भिर्नर्त्तकीजनैः ।
अर्हद्दासगृहे प्राप स्वामिजम्बूकुमारकः ॥ ९९ ॥
यत्तत्राप्युचितं किंचिद्यत्प्रासंगिकमुत्तमम् ।
तत्सर्वं विनयान्नूनमर्हद्दासोऽप्युपाददे ॥ १०० ॥
यः कश्चित्तत्र दानीयो सोऽपि दानेन प्रीणितः ।
प्रश्रयार्होऽपि यः कश्चित्सत्कृतः स तथा किल ॥ १०१ ॥
जिनमत्यापि सोत्साहात्स्वगुर्व्यो[1] बहुमानिताः ।
यथास्वं पट्टकूलादि ताभ्यो दत्तं स्वभक्तितः ॥ १०२ ॥
सन्मानिताश्च ते सर्वे (ताः सर्वाः) प्राप्ता निजनिजगृहम् ।
निद्राघूर्मि (र्णि) तनेत्राश्च बभूवुः शयनोद्यताः ॥ १०३ ॥
सह ताभिः कुमारश्च रहस्येकत्र मंदिरे ।
स्थापितस्तु वयस्यालीजनैः[2] सस्मितलोचनैः ॥ १०४ ॥
अथ ज्वलत्सु दीपेषु दीपिताशेषवस्तुषु ।
हंसतूलाख्यशय्यायां स्थितस्ताभिः सहासकौ ॥ १०५ ॥
तत्र वाचंयमीवाशु तस्थौ स्वामी विरक्तितः ।
संस्थितश्चापि तन्मध्ये पद्मपत्रं जले यथा ॥ १०६ ॥
नापि वक्ति न पश्येच्च सुरूपास्वपि तासु वै ।
स्थितः स्थिरतरः स्वामी निस्तरंगसमुद्रवत् ॥ १०७ ॥

---

१ गरिष्ठाः योषितः । २ सखीजनैः ।

ताराणां निकरो रेजे तदा व्योम्नीव निर्मलः ।
यामिनीकामिनीभूषाहेतुमुक्ताकदंबकः ॥ १०८ ॥
अथ तासां शरीरेषु ज्वलति स्म स्मरानलः ।
प्रत्युपायैरसह्यश्च साभिलाषो रिरंसया ॥ १०९ ॥
क्षणमेकं ततः स्थित्वा ताभिः कामातुरात्मभिः ।
मंदं मंदमथालापं कुर्वतीभिः परस्परम् ॥ ११० ॥
कामाकुलाभिराभिश्च ताम्बूलादिसुदित्सया ।
आरब्धा स्मरसंचेष्टा नानाशृंगारवार्त्तया ॥ १११ ॥
दर्शयेत्कामुकी काचित्तत्र हारमिषात्स्तनौ ।
दृढौ बिल्वफलाकारौ यौवनांभोभृतौ घटौ ॥ ११२ ॥
काचिन्नाभिं सुगंभीरां दर्शयंती स्थलादिह ।
काचिदूरुद्वयोल्लासं धत्ते स्म निजलीलया ॥ ११३ ॥
काचिदट्टहासादिनर्मगर्भं च मर्मभित् ।
वचश्चोचे नवोद्वाहा स्वामिनं प्रति सस्मरा ॥ ११४ ॥
काचिद्दृक्कोणलीलाभिः स्वसात्कर्तुं समीहते ।
हावभावविलासाद्यैः काचित्कांतं विमोहति ॥ ११५ ॥
काचिद्रागांश्च गायंती पचम (न) ध्वनिमिश्रितान् ।
काचित्पठति वैदग्ध्याद्रंजितं स्वामिनो मनः ॥ ११६ ॥
इत्यादिविविधैर्भावैर्दर्शयंत्यः स्वपाटवम् ।
न क्षमास्ताश्चतस्रोऽपि तन्मनो मोहितुं मनाक् ॥ ११७ ॥
इतिसुकृतविपाकात्स्वामिजम्बूकुमारः
सकलसुखनिधानो मारमातंगसिंहः ।

कृतपरिणयकर्मा धर्ममूर्तिर्विरक्तो
विषयविरतचेताः स्यात्समासन्नभव्यः ॥ ११८ ॥

इति श्रीजम्बूस्वामिचरित्रे भगवच्छ्रीपश्चिमतीर्थंकरोपदेशानुसारित-
स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदपण्डितराजमल्लविरचिते साधु-
पासात्मजसाधुटोडरसमभ्यर्थिते जम्बूस्वामिपरिणय-
नोत्सववर्णनो नाम नवमः पर्वः ।

अथ दशमः पर्वः ।

भवत्वाराधिता सम्यग्भारती परमेष्ठिनां ।
साधुपासांगजस्यास्य श्रेयसे साधुटोडरः ॥१॥ इत्याशीर्वादः ।

कुंथुं कुंथ्वादिसदयं धर्मतीर्थविधायकम् ।
अरं चारिविनाशाय वंदे मुक्तिवधूवरम् ॥ १ ॥
अथ तासां चतसृणां दृष्ट्वा पंचेषुविक्रियाम् ।
निर्विवेद विदांवर्यो जम्बूस्वामी तदर्थकृत् ॥ २ ॥
हा धिगज्ञानमेवैतन्मोहकर्मोदयादिह ।
यत्प्रभावान्नु मन्यंते जीवा दुःखं हि सौख्यवत् ॥ ३ ॥
तथा मरीचिकां पातुं मृगो धावति वार्धिया ।
तथा प्राणिगणश्चायामिच्छेद्वैषयिकं सुखम् ॥ ४ ॥
यथा कंडूयनं कुर्वन्नातुरो नखरैः खरैः ।
अजानन् स्ववपुःपीडां मनुते हि वरं वरम् ॥ ५ ॥
तत्सौख्यं यन्निराबाधं साधोः स्वात्मसुखाप्तये ।
निर्विपेक्षमथो नित्यमव्याबाधमतीन्द्रियम् ॥ ६ ॥
इदं त्वाक्ष्यं सुखाभासं परं बाधापुरःसरम् ।
बंधहेतुरनित्यं च तद्धेयं हि महात्मभिः ॥ ७ ॥

---

१ सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदिएहि लद्धो तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥
इति प्राकृतश्लोकः ।

आद्या(त्मा)नंदमजानानो जनः प्रज्ञापराधतः ।
विषयेषु समासक्तः सुखं वदति मूढधीः ॥ ८ ॥
किं चास्मिन्सुखे मग्नो जीवो मज्जति दुर्गतौ ।
योषित्पाशैर्दृढं बद्धो यथा वागुरया मृगः ॥ ९ ॥
आशीर्विषं[1] वदंत्यन्ये दंदशूक[2]विशेषकम् ।
वृथा वै तदहं मन्ये चेदथो योषिदंजसा ॥ १० ॥
यासामर्धविलोकैश्च दंदह्यंते हि कामुकाः ।
ज्वलत्कामाग्निना दग्धाः शराघातैर्मृगा इव ॥ ११ ॥
असारेऽपि वधूकाये मोमुह्यंते शठाः कथम् ।
त्यक्त्वातीन्द्रियसौख्यं हि सीदंति बत दुर्मदाः ॥ १२ ॥
यदत्र गर्हितं किंचित्तत्सर्वं स्त्रीकुटीरके ।
वर्चो[3]मूत्राद्यसृङ्मांससंभृते कीकसोच्चये ॥ १३ ॥
सुंदरं चापि यद्वस्तु पूतं वा यन्निसर्गतः ।
वपुःसंसर्गतो नूनं याति दुर्गंधतां क्षणात् ॥ १४ ॥
आलकोलहलेनालमिमाः सर्वाश्च योषितः ।
मन्ये प्राणिविबंधाय धात्रा पाशा विनिर्मिताः ॥ १५ ॥
एवं संचिंतयन्नास्ते यावत्स्वामी स्वचेतसि ।
तावत्प्रोवाच पद्मश्रीस्तास्तिस्रोऽपि वधूः प्रति ॥ १६ ॥
अहोऽस्मिन् निर्गुणे पुंसि किं कृतेनापि चाटुना ।
बाणाः कुर्वंति किं षंढे मन्मथस्यापि सर्वशः ॥ १७ ॥

---

१ आशिषि आस्यां वा विषमस्येति विषधर इत्यर्थः ।
२ गर्हितं दशति इति दंदशूकः सर्पः । ३ पुरीषं ।

यथांधे नर्तनेनापि गानेन बधिरे न हि ।
कातरे किं कृपाणेन किं लक्ष्म्या कृपणे वृथा ॥ १८ ॥
सखे समीक्षकारीव वर्तते ग्राहवानयम् ।
प्राप्तं तपःफलं त्यक्त्वा पुनः कर्तुं समीहते ॥ १९ ॥
यथा कश्चिन्नरो मूर्खः सिद्धमन्नं स्वसद्मनि ।
त्यक्त्वाज्ञानात्प्रमादाद्वा भिक्षुर्भिक्षामटत्यहो ॥ २० ॥
तपसां हि फलं सौख्यं तत्स्वर्गे वा महीतले ।
प्राप्तं चापि न जानाति नूनमध्यक्षतो जडः ॥ २१ ॥
वयं रंभासमा नार्यः सद्मैतत्स्वर्गसन्निभम् ।
वपुर्दिव्यं गृहे संपद् दुर्लभं किमतः परम् ॥ २२ ॥
सर्वं स्वाधीनमुत्सृज्य तपः कर्त्तुं समीहते ।
तत्र सा प्राप्यते नो वा विवेकरहितस्त्वयम् ॥ २३ ॥
सख्यः कथानकं चैकं रम्यं दृष्टांतभूमिजम् ।
सावधानतया श्राव्यं युष्माभिर्वच्म्यहं यदि ॥ २४ ॥
शृण्वंति स्म च तास्तिस्रो साश्चर्याः सकुमारकाः ।
पद्मश्रीरवदत्सौम्या धनदत्तकथानकम् ॥ २५ ॥
यथात्र हालिकः[1] कश्चिद्धनदत्तो नाम्नाप्यभूत् ।
तस्य भार्या यथानाम्नी वर्तते स्म मुदान्विता ॥ २६ ॥
तयोर्जातः सुतश्चैको नाम्ना वै सबलो बली ।
अप्येकाकी स निष्णातो गृहकार्ये क्षमः क्षमी ॥ २७ ॥
अथ दैववशात्तस्य हालिकस्य मृता वधूः ।
लब्ध्वा लक्ष्मीर्यथा स्वप्ने दृष्टनष्टाभवत्क्षणात् ॥ २८ ॥

१ हलेन खनति इति कर्षकः इत्यर्थः ।

हालिकेन ततः पश्चादुद्वाह्याशु सुतं वरम् ।
परिणीता परा स्वस्मै वृद्धेनापि सकामिना ॥ २९ ॥
षोडशाब्दमिता सेयं षष्टिवर्षमितः स्वयम् ।
तया सार्द्धं रतिक्रीडां कुर्वन्नास्ते स कामुकः ॥ ३० ॥
अथाऽन्येद्युर्निशीथे सा कामुकी कामिना सह ।
कथंचित्प्रणयक्रोधाज्जाता मानमधिष्ठिता ॥ ३१ ॥
ततोऽनुनेतुकामोऽसौ स्वप्रियां तां प्रसादयन् ।
उवाच हालिकः कामी चाटुवाक्यं वदन्निति ॥ ३२ ॥
प्रिये प्रिये वदस्वाशु सन्मूखीभूय मां प्रति ।
कोपस्य कारणं किं स्यादत्राकस्मात्प्रिये मयि ॥ ३३ ॥
वदत्येवं मृदूक्त्यापि सानुकूलेऽपि भर्तरि ।
मा मां स्पृश करेणेति सावदत्क्रोधशालिनी ॥ ३४ ॥
अलं त्वया प्रियेणापि मद्वचोऽकुर्वता शठ ।
अज्ञानान्निघ्नता प्रीतिं तल्लक्षणमजानता ॥ ३५ ॥
उक्तं च—
"पानीयं च रसः शीतं परान्नं सादरं रसः ।
रसो गुणयुता भार्या मित्रश्चानंतरो रसः" ॥ ३६ ॥
इत्याकर्ण्य स भार्योक्तमूचे वाचः प्रियंवदः ।
वद प्रिये मया चाशु कर्तव्यं त्वन्मनीषितम् ॥ ३७ ॥
लालितानुनयेनेह सोचे पापाशया शुभा ।
नंदनं सबलं नाम्ना घातयैनं सुनिश्चयात् ॥ ३८ ॥

१ रात्रौ ।

श्रुत्वेति कंपमानोऽसौ हालिकः पुनरब्रवीत् ।
वद मुग्धे महादुष्टमेतत्कर्म दधे कथम् ॥ ३९ ॥
किं श्रेयस्तद्वधेनापि दर्शयस्व प्रिये मम ।
न हि कार्यमनुद्दिश्य मंदश्चापि प्रवर्तते ॥ ४० ॥
हालिकं सा (प्रिया) वादीद्युक्तिसंदर्भया गिरा ।
हते त्वस्मिन्महाश्रेयो भावीति शृणुत (?) यथा ॥ ४१ ॥
सत्यस्मिन् सूनवः केचिद्ये यास्यंति ममोदरात् ।
ते सर्वेऽप्यस्य दासत्वं करिष्यंति न संशयः ॥ ४२ ॥
अतोऽयं सर्वथा वध्यो नूनं भर्तर्विधेहि तत् ।
मारिते त्वत्र ते सर्वे स्वाधीनाः स्युः सुखावहाः ॥ ४३ ॥
एवं तद्वचनैरीषत्प्रस्खलन्मानसोऽपि सः ।
किंचित्कारुणिकस्तत्र हालिकः पुनरब्रवीत् ॥ ४४ ॥
मुग्धे निरपराधं तं मारयामि सुतं कथम् ।
अपि चैकं गृहस्यास्य वोढारं विनयान्वितम् ॥ ४५ ॥
यदि वा मारिते त्वस्मिन् राज्ञो दंडभयो भवेत् ।
बांधवाश्चापि ते सर्वे दोषं दास्यंति सत्वरम् ॥ ४६ ॥
पुनर्दुर्ललिता सोचे भर्तारं हालिकं प्रति ।
वधैनं सर्वथा भर्तरन्यथा नावयोः सुखम् ॥ ४७ ॥
अतः परं तु मद्गर्भे ये भविष्यंति सूनवः ।
वृद्धत्वे ते करिष्यंति निर्विघ्नं सुखमावयोः ॥ ४८ ॥
अप्युपायं च ते वच्मि यथा तस्य वधे कृते ।
नापि भूपतिभीतिः स्यान्नापि रुष्यंति बांधवाः ॥ ४९ ॥

१ प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते इति सुभाषिते । २ भारवाहकं ।

यदासौ लांगलं मंदं मंदं वाहयति स्फुटम् ।
तदा त्वमप्यतः पश्चाद्वाहयातीव वेगतः ॥ ५० ॥

खरशृंगैर्बलीवर्दैः प्रातोदादतिताडितैः ।
मारयैनमनायासाद्यथाधूर्तविचेष्टितम् ॥ ५१ ॥

एवं कृते न भूपालो दंडं दास्यति ते क्वचित् ।
नापि बंधुजनाः सर्वे युष्मद्दोषावहा मनाक् ॥ ५२ ॥

भार्योक्तं प्रतिपाद्यासौ कामांधो हालिकः कुधीः ।
तथास्त्विति वचश्चोचे तामाश्वास्य पृथग्जनः[2] ॥ ५३ ॥

आलिंग्याभिमुखीभूय संतुष्टासौ स्वमानसे ।
कामकेलिं तथा चक्रे प्रिया सुरतिपण्डिता ॥ ५४ ॥

अथ तत्सूनुना सर्वमाकर्णितं यथोदितम् ।
सुप्तेनोपगृहं वृत्तं समक्षमनुरक्तयोः ॥ ५५ ॥

प्रातरुत्थाय प्रागेव तत्रागात् सबलः सुतः ।
हालिकस्तदनु प्रातो हंतुकामः स्वनंदनम् ॥ ५६ ॥

पृष्ठलग्नोऽपि यावत्स जनकस्तत्र गच्छति ।
तावत्तन्नंदनेनाशु क्षेत्रे संवाहितं हलम् ॥ ५७ ॥

अथ गत्वा ददर्शासौ पामरश्चात्मजं वरम् ।
मूलोन्मूलं हि कुर्वाणं शालिक्षेत्रं हलास्यतः[1] ॥ ५८ ॥

दृष्ट्वाथ हालिकोऽवादीद्रे रे पुत्र महाशठ ।
भ्रात्या (?) कष्टकरं नूनमर्थच्छेदं करोषि किम् ॥ ५९ ॥

---

१ हलम् । २ नीचजनः ।

उवाच पुत्र भो तात जीर्णत्वात्सस्यसंपदम् ।
प्रोन्मूल्य रोपयिष्यामि नवांश्चात्मसुखाप्तये ॥ ६० ॥

समाकर्ण्य वचस्तस्य पित्राप्युक्तं स्वबुद्धितः ।
सिद्धं त्यजसि रे पुत्र नव्यं कांक्षसि रे जड ॥ ६१ ॥

छलान्वेषी स पुत्रोऽपि वचश्चोचे समृद्धवाक् ।
तातैवं चेत्स्मरस्याशु रात्रौ यज्जल्पितं त्वया ॥ ६२ ॥

हत्वाद्य मां सुसत्ताकं पुत्रं वांछति भाविनम् ।
सुखार्थं कांतया सार्द्धं तात बुद्धिस्तवेदृशी ॥ ६३ ॥

पुत्रवाक्यात्स मूर्खोऽपि जातः प्रतिबुद्धतां क्षणात् ।
दुराग्राही त्वयं बाले नेतुं शक्यो न मार्दवम् ॥ ६४ ॥

अज्ञवच्चेष्टते तद्वत्स्वामी जम्बूकुमारकः ।
स्वाधीनाः संपदस्त्यक्त्वा संदिग्धाः पुनरीहते ॥ ६५ ॥

एतत्सर्वं कथावृत्तं श्रुत्वा प्रोवाच धीधनः ।
निरीहोऽपि यथा वक्ति धर्माख्यानं सुयोगिराट् ॥ ६६ ॥

प्रियाः कथानकं चैकं भवद्बोधविधायकम् ।
सावधानतया श्राव्यं भवतीभिर्मयोदितम् ॥ ६७ ॥

विंध्याचले महाटव्यां मृतश्चैको मतंगजः ।
वर्षापूरभरेणेव नर्मदां प्रति सोऽप्यगात् ॥ ६८ ॥

तत्तत्कलेवरं कश्चिद्भक्षमाणोऽपि वायसः ।
अन्वगात्तत्करंकस्थो लोलुपः पिशिताशितः ॥ ६९ ॥

---

१ तत्कपालोपरि स्थितः ।

मध्येजलं यथाधावत्पतितोऽसौ महांबुधौ ।
काकस्तत्पिशितग्रासरससंलुब्धमानसः ॥ ७० ॥
भक्षितं तद्वपुस्तूर्णं मत्स्याद्यैर्जलचारिभिः ।
काकेन गंतुमारब्धमुड्डीनेन महाम्बुधौ ॥ ७१ ॥
उड्डीयोड्डीय यावत्स व्योम्नि पश्यति दिङ्मुखम् ।
स्थानं ग्रामं तरुं शैलं विश्रामार्थं न किंचन ॥ ७२ ॥
कियत्कालं स बंभ्रम्य पतितोऽथ महार्णवे ।
आस्यैकंकंकमित्युक्त्वा वराको पंचतां गतः ॥ ७३ ॥
यथा तन्मांसलुब्धेन प्राप्ता चापदनीदृशी ।
तथाहं न भविष्यामि कांताः कांतवपुश्रयाः ॥ ७४ ॥
भोक्तारं चाधुना भोगान् युष्मत्संस्पर्शसंभवान् ।
तत्पाकान्मां निमज्जंतमुद्धरेत्को भवांबुधौ ॥ ७५ ॥
दृष्टांतेन प्रतिध्वस्तं तत्पद्मश्रीकथानकम् ।
कनकश्रीरथोवाच कथां कौतूहलावहाम् ॥ ७६ ॥
कैलासे पर्वते रम्ये कपिश्चैकोऽभवत्किल ।
दैवयोगाद्थान्येद्युः शैलशृंगमधिष्ठितः ॥ ७७ ॥
पतित्वाथ ततो वेगात्खंडखंडितविग्रहः ।
अकामनिर्जरां कुर्वन् मृत्वा जातः खगाधिपः ॥ ७८ ॥
एकदा स मुनिं नत्वा पप्रच्छ स भवांतरम् ।
मुनिस्तूचे यथावृत्तं सावधिज्ञानचक्षुषा ॥ ७९ ॥
पुरा जन्मनि विद्येश त्वमासीत्कपिरुत्तमः ।
कैलासाच्चं पतित्वाशु मृत्वा जातो खगः शुभात् ॥ ८० ॥

श्रुत्वेतिवचनं रम्यं पावनं मुनिनोदितम् ।
निश्चिकाय खगेनाशु स्थापितं हृदि दुर्धिया ॥ ८१ ॥
यतः स्थानात्कपिर्मृत्वा जातो विद्याधरो नरः ।
नूनं ततः खगो मृत्वा देवोऽहं भविता क्षणात् ॥ ८२ ॥
अतएव मयावश्यं कर्तव्यं मरणं वरम् ।
ततः कैलासकूटाग्रात् पतित्वाथ तथाविधम् ॥ ८३ ॥
विमृश्य चैकदाऽवादीत्खगो निजप्रियां प्रति ।
यथा मनीषितं स्वस्य प्राणघातस्य सूचकम् ॥ ८४ ॥
प्रिये सर्वं हि सुप्राप्यं स्वर्गमोक्षादिकं फलम् ।
केवलं शैलकूटाग्रात्पातेनाशु विशंकया ॥ ८५ ॥
भर्तुर्वचः समाकर्ण्य विललापातिदुःखिता ।
भार्या विद्याधरस्योच्चैर्विह्वला दीनमानसा ॥ ८६ ॥
कांत कांत महाप्राज्ञ वृथा मरणमिच्छसि ।
विद्याधरोऽसि नाथ त्वं दुर्लभं किमतः परम् ॥ ८७ ॥
उल्लंघ्याथ प्रियावाक्यं शैलशृंगात्पपात सः ।
मृत्वा दुर्ध्यानयोगेन यातो रक्ताननः कपिः ॥ ८८ ॥
सख्यो यथा खगो मूर्खो मुक्त्वा स्वाधीनसंपदः ।
मृतश्चापन्मयो जातस्तथास्माकीयनायकः ॥ ८९ ॥
प्राप्ताश्चापि महारम्यास्त्यक्त्वा सर्वा हि संपदः ।
भाविन्यस्ताः समीहेत प्राप्यंते तपसा न वा ॥ ९० ॥
जम्बूस्वामी तदाकर्ण्य सर्वं कनकश्रियोदितम् ।
प्रोवाचोत्तरं व्याजादेकं किंचित्कथांतरम् ॥ ९१ ॥

तथा नाहं भवाम्यत्र संसारे प्रियवादिनि ।
निर्मग्नं विषयेषूच्चैः कः को मां हि समुद्धरेत् ॥ १०३ ॥
इत्युत्तरबलादेव कनकश्रीरश्रीरभूत् ।
विनयश्रीस्तृतीयोचे या कथाकोषकौशला ॥ १०४ ॥
एकः कश्चिद्दरिद्रो हि संखनामास्ति कुत्रचित् ।
मध्येवनं स प्रत्यूषे याति काष्ठादिहेतवे ॥ १०५ ॥
ततश्चेन्धनमानीय विक्रीयाथ यथार्थतः ।
क्लेशेन वल्भनं तस्य भवेत्सातेतरोदयात् ॥ १०६ ॥
एकदा बहुमूल्यत्वाल्लब्धं किंचित्ततोऽधिकम् ।
भोजनादवशिष्टं स्यादेकं रूपकमात्रकम् ॥ १०७ ॥
ततो विमृश्य दीनोऽसौ भार्यया समकं तदा ।
आपद्रक्षादिहेतोस्तद्भूमौ निक्षिप्तवानिह ॥ १०८ ॥
अथ कश्चित्प्रवासी च साध्वसात्तत्र कानने ।
रत्नभांडं सुनिक्षिप्य गतस्तीर्थादिकेषु सः ॥ १०९ ॥
काननं भ्रमता तेन दृष्टं तद्दैवयोगतः ।
निक्षिप्तं च ततोऽन्यत्र लोभात्तत्र विमृश्यता ॥ ११० ॥
प्रत्यहं रत्नमेकैकं ग्रहीष्यामि प्रयत्नतः ।
इत्यानंदमनाश्चासौ वेगात्तूर्णं स्वसद्मनि ॥ १११ ॥
गत्वा गेहे दरिद्रोऽसौ भार्यां प्रति निवेदयत् ।
रत्नभांडं मया प्राप्तं प्रिये पुण्योदयादिह ॥ ११२ ॥
स्थापितं तच्च कांतारे मया चाद्य प्रयत्नतः ।
सत्यं जानीहि हे कांते नान्यथा वच्मि कर्हिचित् ॥ ११३ ॥

श्रुत्वाश्चर्यवती भार्या जाता रोमांचिता तदा ।
भद्रं तथास्तु हे कांत चिरंजीवी त्वकं भव ॥ ११४ ॥
अथ मयोदितं मंत्रमवश्यं क्रियतां त्वया ।
संचितो रूपकः पूर्वं योऽसौ संगृह्य लक्षताम् ॥ ११५ ॥
सोपि तत्रैव संस्थाप्यो रत्नभांडे सुकौशलात् ।
त्वमहं च तथापूर्वं कुर्यावः कर्म सांप्रतम् ॥ ११६ ॥
प्रामाणितं दरिद्रेण मोहाद्भार्योदितं वचः ।
वरं वरं त्वयोक्तं यत्कांते वैदग्ध्यशालिनि ॥ ११७ ॥
ततस्तौ दंपती स्यातां काष्ठाद्युद्धरक्षमौ ।
तद्वनाच्छिरसा नीत्वा विक्रीय च कुक्षिंभरौ ॥ ११८ ॥
एवं व्यतीयमानेऽत्र काले कियति चानयोः ।
दैवाद्रत्नपतिः सोऽयमागतस्तत्र कानने ॥ ११९ ॥
यथास्थाने निरीक्ष्याशु न लब्धं रत्नभांडकम् ।
ततश्चोद्यमवान् जातो यत्र तत्र निरीक्षणे ॥ १२० ॥
चिराल्लब्धं धनेशेन रत्नभांडं स्वपुण्यतः ।
नीत्वोत्खाय गतः सोऽयं सानंदात्स्वालयं प्रति ॥ १२१ ॥
अहो पुण्यवशाल्लक्ष्मीश्चंचलापि स्वभावतः ।
विनष्टाप्यन्यथामेन कथं लब्धा सुखादिह ॥ १२२ ॥
एकदोद्घाट्य कुंभं तं रिक्तं यावत्स पश्यति ।
हत्वा हत्वा शिरः स्वीयं रोदिति स्म जडोऽधमः ॥ १२३ ॥
रत्नभांडेन तेनालं मम पूर्वोऽपि रूपकः ।
संचितोऽपि विनष्टोऽभूत्तेन सार्द्धं स्वदुष्कृतात् ॥ १२४ ॥

हा वंचितोऽस्म्यहं नूनं दुर्दैवेन विपाकिना ।
यतो लब्धमपि स्यान्न दानायाथ न भुक्तये ॥ १२५ ॥
स्ववशां भुंजते नैव लक्ष्मीं प्राप्तामपीह यः ।
पश्चात्तापपरो मूर्खः संखवत्स भविष्यति ॥ १२६ ॥
जम्बूस्वामी निशम्यैतद्विनयश्रीकथानकम् ।
प्रोचे कथांतरं व्याजाद्वाक्यं प्रत्युत्तरप्रदम् ॥ १२७ ॥
आसीद्वणिग्वरः कश्चिल्लब्धदत्त इतीरितः ।
वाणिज्याय जगामाशु कांतारं वर्त्म दुर्गमम् ॥ १२८ ॥
दुर्दैवात्तत्र संलग्नो गजो दुर्मदभीषणः ।
हंतुं तं वणिजं कोपात्कृतांत इव निर्दयः ॥ १२९ ॥
तद्भीतो वणिजां नाथः प्रपलायन्नितस्ततः ।
वटप्रारोहमालंब्य स्थितः कूपांतरालतः ॥ १३० ॥
तत्र प्रारोहमूलं तत्कृतांतं मूषकद्वयम् ।
सितासितं च वर्णेन संददर्श वणिग्वरः ॥ १३१ ॥
चिंतितं तेन चित्ते स्वे किं कर्तव्यं मयाधुना ।
कूपगर्ते पतिष्ये चेद्भविष्ये शतखंडतां ॥ १३२ ॥
चिंतयन्निति यावत्स स्थितो धीरतया वणिक् ।
तावत्कूपस्य भूभागेऽजगरं दृष्टवानहो ॥ १३३ ॥
कंपमानोऽथ तद्भीतेरंतरे तत्र कूपके ।
पार्श्ववाल्मीकरंध्राच्च निर्गता भीषणाहयः ॥ १३४ ॥
यादृशं वणिजो दुःखं तत्राजायत संकटे ।
चिंताव्याकुलचित्तस्य कः क्षमो वक्तुमंजसा ॥ १३५ ॥

नागोऽथ रोषवानेत्य वटमुत्खातुमुद्यमी।
आत्मस्कंधबलेनेह ध्वनति स्म महाद्रुमम्॥ १३६॥
स्थितस्तत्र वटावासे च्युतो माक्षिकसद्मनः।
एकस्तस्योन्मुखस्यास्ये मधुबिंदुरपीपतत्॥ १३७॥
से तेन निर्वृतिं लेभे यथा लब्धं मनीषितम्।
उत्तमं स्थानमेवैतन्मया प्राप्तं वदन्निति॥ १३८॥
अत्रांतरे खगः कश्चित्संचरन्व्योमवर्त्मनि।
दृष्ट्वा दुःस्थं तमुत्तीर्य विमानादित्यवीवदत्॥ १३९॥
रे रे मूढ खगेशोऽहं त्वामुद्धर्तुमलं त्वर।
मामकं भुजमालंब्य निःसरस्वाशु संकटात्॥ १४०॥
श्रुत्वावादीत्स मूढात्मा तद्रसास्वादलोलुपः।
प्रतीक्षस्व खगेश त्वं मन्मुखे संपतन्मधु॥ १४१॥
तावत्सुखेन तिष्ठामि जीव्ये चाहं यथास्थितः।
मधुबिंदुरसाभावात्ततो निःसरणेन किम्॥ १४२॥
शृण्वन्नपि कृपाक्रांतः खगो भूयोऽवदत्सुधीः।
रे रे मूढानभिज्ञोऽसि मर्तुमिच्छसि किं हठात्॥ १४३॥
नेक्षसे मरणं पार्श्वे स्थितं ते दुर्निमित्ततः।
बिंदुमात्रस्य लोभेन मा याहि यममंदिरम्॥ १४४॥
आलकोलाहलेनालं यदि जीवितुमिच्छसि।
आलंबयस्व मे बाहुं विलंबोऽनुचितस्तव॥ १४५॥
इत्यादिविविधैर्वाक्यैर्बोधितोऽपि खगेशिना।
नागमन्मार्दवं मूर्खो रसनेन्द्रियवंचितः॥ १४६॥

आकर्ण्येदं वचस्तस्य मर्तुकामस्य दुर्दृशः ।
विद्याधरो जगामाशु संत्वरं स्वास्पदं प्रति ॥ १४७ ॥
अथ प्राप्तः स पंचत्वं सरघाशतपीडितः ।
व्याकुलीभूय प्राणांते हाहाकारं रटन्निति ॥ १४८ ॥
कूपेऽप्यपतदेवासौ लब्धदत्तो वणिक्सुतः ।
युग्ममूषकसंछिन्नवटारोहसमन्वितः ॥ १४९ ॥
कूपांतः प्रपतन्नाशु भक्षितोऽजगरेण सः ।
कालरूपेण तेनाहो लब्धदत्तो वणिग्यथा ॥ १५० ॥
तथाहं न विशालाक्षि सुखलेशस्य हेतवे ।
कालवक्त्रे महाभीमे विशाम्यात्महतो भवन् ॥ १५१ ॥
निर्व्यूढा स्वामिवाक्यात्सा विनयश्रीः सुश्रीरपि ।
अथोवाच कथां तुर्यां रूपश्री रूपशालिनी ॥ १५२ ॥
अथैकदा समायातः प्रावृट्कालो मनोहरः ।
नवांभोदैर्महीभागं कुर्वन्नेकार्णवं जवात् ॥ १५३ ॥
रुंधच्छिद्राणि सर्वाणि वारिपूरैर्महीतले ।
विद्यु द्रा(?)त्कारसंत्रस्तयोषिज्जनकदंबकः ॥ १५४ ॥
गमनागमनाभ्यां च कर्दमीभूतभूतलः ।
महादुर्दिनतमस्तोमतिरोहितदिवाकरः ॥ १५५ ॥
अथ चैवंविधे काले वर्तमाने महीतले ।
कृकलासः[1] क्षुधाक्रांतो निर्गतो भुक्तये बिलात् ॥ १५६ ॥
तेन पर्यटता दृष्टो दंदशूकोऽतिभीषणः ।
अंजनाभोऽतिबीभत्सश्चलज्जिह्वांचलः क्रुधः ॥ १५७ ॥

---

१ सरटः कृकलासः स्यात् इत्यमरः ।

कृष्णसर्पं तमालोक्य कालरूपं पुरःस्थितम् ।
तत्रास्ते कृकलासोऽयं भीतश्चिंतातुरो भयात् ॥ १५८ ॥
जीविष्येऽहं कथं दैव केनोपायेन सांप्रतम् ।
चिंतयन्निति तद्वेगाद्विवेश नकुलालये ॥ १५९ ॥
नागोऽपि तमनुप्राप्य छिद्रे छिद्रशतान्विते ।
क्षुधार्तानामहो कास्था प्राणिनां प्राणिसंकटे ॥ १६० ॥
तत्राप्यग्रे स्थितं मुक्त्वा कृकलासं सरीसृपः[2] ।
गच्छति स्म ततोऽप्यग्रे तत्कुटुम्बजिघृक्षया ॥ १६१ ॥
विशंस्तत्र बिले दृष्ट्वा नकुलैः स बिलेशयः ।
भक्षितस्तैः क्षुधाक्रांतैः संभूय बहुभिर्यथा ॥ १६२ ॥
तथायं मामकः स्वामी विवेकरहितो जडः ।
प्रत्यग्रासं त्यजंल्लक्ष्मीं पथभ्रष्टो भविष्यति ॥ १६३ ॥
श्रुत्वा जम्बूकुमारोऽसौ वाक्यं रूपश्रियोदितम् ।
ऊचे तत्प्रतिबोधाय रम्यं किंचित्कथांतरम् ॥ १६४ ॥
आसीत्स जम्बुको कश्चिदत्र विख्यातभूतले ।
एकदा तु विभावर्यां[3] जगाम नगरांतरम् ॥ १६५ ॥
तत्र जैरद्गवं[4] चैकं मृतं दृष्ट्वा स हर्षितः ।
अद्य संपत्स्यते नूनं यथास्वं मे मनोरथः ॥ १६६ ॥
चिंतयित्वा प्रविष्टः स तद्बलीवर्दपंजरे ।
भक्षयन्पिशितं तस्य नाज्ञासीद्रजनीं गताम् ॥ १६७ ॥

---

१ बुभुक्षितः किं न करोति पापं । इति हितोपदेशे । २ सर्पः । ३ रात्रौ ।
४ वृद्धवृषभं ।

प्रातःकालेऽथ संजाते दृष्टः पौरजनैरिह ।
तदस्थिपंजरात्तिर्यक् निःसर्तुमपि न क्षमः ॥ १६८ ॥
चिंताव्याकुलितः सोऽयं चिंतति स्म निजे हृदि ।
अद्य मे मरणं नूनं संप्राप्तं दैवयोगतः ॥ १६९ ॥
अथ पौरजनः कश्चित्तस्य कर्णद्वयं यथा ।
पुच्छकं च लुनाति स्म सिद्धौषधिधिया कुधीः ॥ १७० ॥
चिंतितं जम्बुकेनेह जीविष्ये चेदहं मनाक् ।
ईदृशोऽपि कथंचिद्वै न नष्टं मे किमप्यहो ॥ १७१ ॥
अथ कश्चिद्विटस्तस्य रदानुत्खाय चाश्मना ।
नीत्वागमद्गृहे स्वस्य वशीकरणहेतुतः ॥ १७२ ॥
अचिंतयत्तदा सोऽपि दैवाज्जीव्ये कथंचन ।
ईदृशोऽपि प्रदोषेऽद्य नूनं यामि वनांतरम् ॥ १७३ ॥
चिंतयन्निति तत्राशु श्वानाद्यैर्मारितः क्षणात् ।
भक्षितश्च शृगालोऽसौ रसनावशगो यथा ॥ १७४ ॥
तथाहं न भविष्यामि विषयांधो न मूढधीः ।
प्रिये जानीहि कः प्राज्ञो दृष्टिवानुत्पथे पतेत् ॥ १७५ ॥
मामशक्तं हृषीकार्थैरायंत्यां कः समुद्धरेत् ।
न परीक्षाक्षमं चैतद्वचोऽपि तव सम्मतम् ॥ १७६ ॥
इत्थं नानाविकाराद्यैः संलापैस्तत्र योषिताम् ।
न चचाल मनस्तस्य मनागपि महात्मनः ॥ १७७ ॥
अत्रांतरे चुरासक्तो नाम्ना विद्युच्चरो नरः ।
निशि कामलतागेहान्निर्गतश्चौरकर्मणे ॥ १७८ ॥

१ उत्तरकाले ।

सौधं सौधं भ्रमन्नेव चिंतयंस्तलरक्षणात् ।
सोऽर्हद्दासगृहे दैवात्प्रविष्टो दुष्टधीः खलु ॥ १७९ ॥
शय्यागारं कुमारस्य प्राप्तश्चेति व्यचिंतयत् ।
आदौ रत्नानि गृह्णामि किं वा पश्यामि कौतुकम् ॥ १८० ।
वधूवरद्वयोरेव मिथःसंजल्पकौतुकम् ।
शृणोम्येकाग्रतो नूनं ततो मुष्णामि तद्धनम् ॥ १८१ ॥
इति निश्चित्य चित्ते स्वे शुश्रूषुः स्याद्द्वयोरपि ।
वार्तां विद्युच्चरो नाम्ना दस्युकर्मरतोऽपि यः ॥ १८२ ॥
श्रुत्वा द्वयोर्यथा वृत्तं वृत्तांतं वरकन्ययोः ।
परमाश्चर्यपदो जातः सोऽपि विद्युच्चरस्तदा ॥ १८३ ॥
अहो धैर्यमहो धैर्यं वर्णितुं केन शक्यते ।
यद्युवोऽपि मनोधैर्यं नापि भिन्नं वधूजनैः ॥ १८४ ॥
अत्रांतरे कुमारस्य माता सा दुःखपूरिता ।
गमागमौ करोति स्म व्याकुला तत्र वर्त्मनि ॥ १८५ ॥
पश्यति स्म महामोहाद्गृहद्वारं मुहुर्मुहुः ।
किं जातमथ किं भावि वर्तमानमथात्र किम् ॥ १८६ ॥
कामिनीकंठपाशे किमपतत्किमुतोऽथवा ।
इति संशयदोलायामारूढा दुःखिता सती ॥ १८७ ॥
कुड्यपार्श्वेऽथ संलीनं तस्करं संददर्श सा ।
अवादीद्भीतभीता च कः कोऽस्त्यत्र महानिति ॥ १८८ ॥
ततो विद्युच्चरोऽवादीन्मातर्मा गच्छ साध्वसम् ।
अहं विद्युच्चरो नाम्ना चौरोऽस्मीह धरातले ॥ १८९ ॥

चौर्यकर्म करोम्यत्र नित्यं त्वन्नगरे वसन् ।
अतःपूर्वं हृतं मातर्बहुशोऽपि महाधनम् ॥ १९० ॥
मुषितं त्वद्गृहादेव स्वर्णरत्नादिकं मया ।
किमत्र बहुनोक्तेन यावदद्य विधीयते ॥ १९१ ॥
अथोवाच कुमारस्य माता विद्युच्चरं प्रति।
वत्स यद्रोचते तुभ्यं तद्गृहाण ममालयात् ॥ १९२ ॥
ततो विद्युच्चरेणोक्तं वाक्यं जिनमतीं प्रति।
मातर्मन्यस्व मे चिन्ता न स्यादद्य धनार्जने ॥ १९३ ॥
किंतु कौतूहलं चैतन्मया दृष्टमपूर्वजम् ।
यद्युवो न मनो भिन्नं कटाक्षैर्वरयोषिताम् ॥ १९४ ॥
कारणं हि किमत्राहो मातरभ्रांतितो वद ।
अतस्त्वं मे स्वसा धर्मादहं भ्राता तथा तव ॥ १९५ ॥
श्रुत्वा जिनमती प्रोचे धैर्यमालंब्य तं प्रति ।
भ्रातरेकोऽस्ति पुत्रो मे सुप्रीतः कुलदीपकः ॥ १९६ ॥
मोहादुद्वाहितोऽप्यद्य तपो वांच्छेद्विरक्तधीः ।
आसूर्योदयमस्यास्ति नियमस्तपसे ध्रुवम् ॥ १९७ ॥
भ्रातर्जैनीमसौ दीक्षां ग्रहीष्यति न संशयः ।
तद्वियोगकुठारेण मे मनः शतखंडताम् ।
नीयतेऽतोऽधुना भ्रातर्जातास्मि चलचेतसा ॥ १९८ ॥
द्रष्टुं पुत्रोत्सवं दैवाद्वधूभिः सह संगमम् ।
मुहुर्मुहुर्वेश्मद्वारं व्याकुलाहं विलोकये ॥ १९९ ॥
श्रुत्वा जिनमतीवाक्यं जातः कारुणिको महान् ।
ऊचे मातर्मया ज्ञातं सर्वमेतत्कथानकम् ॥ २०० ॥

मा विभीस्त्वं सुसाध्येऽस्मिन् कार्ये कार्यविदा मया ।
यथाकथंचित्तत्पार्श्वे मंक्षु मां हि प्रवेशय ॥ २०१ ॥
मोहनं स्तंभनं मंत्रं तंत्रं चापि वशीकरम् ।
यद्यावद्दुर्घटं किंचित्तत्सर्वं हेलया क्रिये ॥ २०२ ॥
अद्य चेद्वधूवदनसरोजालीमधुव्रतम् ।
त्वत्पुत्रं न करोम्यत्र तदेयं मे गतिर्ध्रुवम् ॥ २०३ ॥
एवं कृतप्रतिज्ञोऽसौ यावदास्ते बहिः स्वयम् ।
गत्वा जिनमती तत्र तद्द्वारे शनकैः स्थिता ॥ २०४ ॥
अंगुल्यग्रैः कपाटस्य युगलं तर्जयंत्यपि ।
नोवाच व्रीडया किंचिच्चातुर्यैकनिधिस्तदा ॥ २०५ ॥
अररद्वंद्वमुद्घाट्य नीतांतः सूनुना तदा ।
आशीर्दानपरा जाता प्रसन्ना प्रणुता सती ॥ २०६ ॥
अथ जम्बूकुमारेण विज्ञप्ता विनयादहो ।
त्वरितं वद भो भ्रातः किमत्रागमकारणम् ॥ २०७ ॥
ऊचे जिनमती पुत्र त्वयि गर्भस्थितेऽगमत् ।
अनुजोऽयं मामको भ्रातर्वाणिज्यार्थं विदेशके ॥ २०८ ॥
इदानीं स समाकर्ण्य पुत्रोद्वहमहोत्सवम् ।
दूरादप्यागतो द्रष्टुं युष्मत्संदर्शनोत्सुकः ॥ २०९ ॥
श्रुत्वा जिनमतीवाक्यमूचे जम्बूकुमारकः ।
आनयस्वाशु भो मातरागतं मम मातुलम् ॥ २१० ॥
पुत्रस्याज्ञां समादाय मात्रा नीतः सम्प्रश्रयात् ।
दस्युर्विद्युच्चरो नाम्ना तत्समीपे समागतः ॥ २११ ॥

१ कपाटम् ।

मायामातुलमालोक्य जम्बूस्वामी स्वगौरवात् ।
आलिलिंग महास्नेहात्पल्यंकादुत्थितो त्वरा ॥ २१२ ॥
पृच्छति स्माथ तं स्वामी मार्गादिकुशलं वरम् ।
एतावत्सु दिनेषूच्चैः क्व स्थितं मातुल त्वया ॥ २१३ ॥
श्रुत्वा विद्युच्चरोऽवादीद्भागिनेयधिया तदा ।
वाणिज्यस्य कृते सौम्य शृणु यत्र मया स्थितम् ॥ २१४ ॥
दक्षिणस्यां दिशि प्राप्य समुद्रं मलयाचलम् ।
पटीरादिद्रुमाकीर्णमग्रोत्तुंगमनोहरम् ॥ २१५ ॥
अगम्यं हि सिंहलद्वीपं केरलं देशमुन्नतम् ।
द्रविडं चैत्यगृहारामं जैनलोकपरिवृतम् ॥ २१६ ॥
चीणं कर्णाटसंज्ञं च कांबोजं कौतुकावहम् ।
कांचीपुरं सुकांत्या वै कांचनाभं मनोहरम् ॥ २१७ ॥
कौंतलं च समासाद्य सह्यं पर्वतमुन्नतम् ।
महाराष्ट्रं च वैदर्भदेशं नानावनाङ्कितम् ॥ २१८ ॥
विचित्रं नर्मदातीरं प्रदेशं विंध्यपर्वतम् ।
विंध्याटवीं समुल्लंघ्य ततश्चलितवानहम् ॥ २१९ ॥
आहीरदेशं चेउल्लं भृगुकच्छतटं महत् ।
यत्र श्रीपालभूपालो धवलश्रेष्ठिनः सुतः ॥ २२० ॥
कोङ्कणं नगरं चाथ किष्किंधनगरं स्फुटम् ।
इत्यादिकौतुकान्वेषी दृश्यं वै कृतवानहम् ॥ २२१ ॥
पश्चिमायां च सौराष्ट्रदेशं संदृष्टवानहम् ।
अनिशं तीर्थकर्तृणां पंचकल्याणपावनम् ॥ २२२ ॥
यत्रोर्जयादिशृंगेषु नेमिनाथो जिनेश्वरः ।
त्यक्त्वा राजीमतीं भार्यां कृतवांश्च तपश्चिरम् ॥ २२३ ॥

संपदः संति सर्वाश्च तत्र को वर्णयेत्कविः।
यतो मुक्तिमगान्नेमिः यदुवंशविभूषणः ॥ २२४ ॥
भिल्लमालं विशालं च गच्छेऽहं त्वर्बुदाचलम् ।
लाटदेशं महारम्यं सर्वसंपत्समन्वितम् ॥ २२५ ॥
चित्रकूटं गिरं सौम्यं देशं मालवसंज्ञकम् ।
पारियात्रमवंत्याश्च देशं जैनालयाङ्कितम् ॥ २२६ ॥
उत्तरस्यामथो दृष्टा मया शाकंभरी पुरी ।
जैनचैत्यालयाकीर्णा मुनिवृंदैः समाश्रिता ॥ २२७ ॥
काश्मीरं करहाटं च सिंधुदेशसमस्तकम् ।
दृष्टवान्हेलया चाहं किं दूरं व्यवसायिनाम् ॥ २२८ ॥
ततः पूर्वदिशाभागे कन्नौजं गौडदेशकम् ।
अंगं वंगं कलिंगं च जालंधरमनुक्रमात् ॥ २२९ ॥
वाणारसीं कामरूपं दृष्टवानहमादरात् ।
यद्यद्दृष्टं मया पूर्वं तत्सर्वं कथ्यते कियत् ॥ २३० ॥
इति विविधकथौघं सद्विवेकी स शृण्वन्
परपरिचयभीतः कामिनीमध्यसंस्थः ।
तदनुविरतचित्तो चौरवाक्यं च किंचित्
जयति जगति पूज्यः स्वामिजम्बूकुमारः ॥ २३१ ॥

इति श्रीजम्बूस्वामिचरित्रे भगवच्छ्रीपश्चिमतीर्थकरोपदेशानुसरित-
स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदपण्डितराजमल्लविरचिते
साधुपासात्मजसाधुटोडरसमभ्यर्थिते भार्याचतुष्ककथा-
विद्युच्चरागमनवर्णनो नाम दशमः पर्वः ॥ ८ ॥

अथ एकादशः पर्वः ।

धर्मवृद्धिप्रसादाद्वै सर्वेऽभीष्टा भवंतु ते ।
साधुपासांगजस्याहो तव श्रीसाधुटोडर ॥ १ ॥ इत्याशीर्वादः ।

मल्लिं मोहमहामल्लप्रतिमल्लमहं स्तुवे ।
मुनिसुव्रतमाम्नातसुव्रतोपज्ञसंज्ञिकम् ॥ १ ॥
अथ विद्युच्चरोऽवादीन्मया मातुलसंज्ञकः ।
मार्दवोद्बोधमिच्छुस्तं जम्बूस्वामिनमंजसा ॥ २ ॥
अहो जम्बूकुमार त्वं महाभागो महोदयः ।
कामदेवसमो दीप्त्या वीर्याद्वज्रिसमो बली ॥ ३ ॥
हिमरश्मिसमः सौम्यो यशसात्र महीतले ।
मेरुवद्धीरवीरस्त्वं गंभीरश्च समुद्रवत् ॥ ४ ॥
भानुमानिव तेजस्वी कंजवत्कोमलाशयः ।
शरणागतं महाराज रक्षणे भुजपंजरः ॥ ५ ॥
दुर्लभं भोगसामग्रीं जानीहि त्वं धरातले ।
सा सर्वापि त्वया प्राप्ता पूर्वोपार्जितपुण्यतः ॥ ६ ॥
दुर्लभं चैकतश्चैकं वस्तुजातं स्वभावतः ।
भोक्तुं शक्तिर्न केषांचिद्यथासत्यपि भोजने ॥ ७ ॥
परेषां भोजनं नास्ति भोक्तुं शक्तिस्तु वर्तते ।
द्वयं प्राप्य न भुंजीत यः स दैवेन वंचितः ॥ ८ ॥

यथा वा संति कामिन्यः कामोत्साहो न विद्यते।
अथ कामोद्यमस्तस्य कामिन्यो न कदाचन ॥ ९ ॥
यथा वा दानशक्तिश्चेद्गेहे द्रव्यं न वर्तते।
अथ चेद्(त्स्व)गृहे द्रव्यं दानशक्तिर्न जायते ॥ १० ॥
दैवात्तदुभयं प्राप्य यो न भुंक्ते स मूढधीः।
शशशृंगधनुःकृष्टेर्हंति वंध्यासुतं जडः ॥ ११ ॥
तस्य हेतोस्तपःक्लेशं चिकीर्षसि विचक्षणः।
सांगं निर्विघ्नं पूर्णं तत्सुखं त्वत्पुरःस्थितम् ॥ १२ ॥
तत्त्यक्त्वा तपसा नूनं ततः साधिकमीहसे।
इदमाकूतं ते प्राज्ञ न परीक्षाक्षमं क्वचित् ॥ १३ ॥
एकं कथानकं रम्यं वच्मि दृष्टांतहेतवे।
भागिनेय महाभाग सावधानतया शृणु ॥ १४ ॥
तद्यथा करभः कश्चिदासीत्सौहत्यमंथरम्।
यथेच्छं कानने रम्ये भक्षति स्म द्रुमान् बहून् ॥ १५ ॥
एकदा भ्रमता तेन वृक्षः कूपतटे स्थितः।
आस्वादितो यथास्वादु ग्रीवया लंबमानया ॥ १६ ॥
तद्दलानि मृदून्येव लिहता करभेण च।
स्वादितं मक्षिकाजालान्मधुबिंदुं तथैककम् ॥ १७ ॥
चिंतयामास चित्ते स रसास्वादवशीकृतः।
वृक्षस्यास्योर्ध्वशाखायां साधिकं तद्भविष्यति ॥ १८ ॥
निश्चित्येति महालोभादूर्ध्वशाखां प्रचक्रमे।
गंतुं पुनः पुनश्चोर्ध्वशाखां प्रति तृषातुरः ॥ १९ ॥

किं बहु प्रस्खलंस्तत्र मृतः कूपे पतन्नसौ ।
जर्जरांगो महालोभाद्बभूव करभो यथा ॥ २० ॥
तथा त्वं भाविभोगार्थं त्यक्त्वा प्राप्तां हि संपदम् ।
चिकीर्षसि तपश्चोग्रमज्ञानेन विमोहितः ॥ २१ ॥
जम्बूस्वामी ततो वाचमूचे विद्युच्चरं प्रति ।
अत्रोत्तरप्रदं किंचिच्छृणु माम कथांतरं ॥ २२ ॥
एको वणिक्सुतः कश्चित्तत्सत्रकार्यरतोऽभवत् ।
एकदा व्यवसायार्थं गतो देशांतरं स्वतः ॥ २३ ॥
मार्गे पिपासितः सोऽयमभूत्काननसंकटे ।
स्यात्तदा जलमप्राप्य पश्चात्तापेन पीडितः ॥ २४ ॥
निःसृतोऽहं वृथा गेहादरण्ये पतितोऽधुना ।
न प्राप्नोति जलं चेन्मे मरणं स्याद्विनिश्चयात् ॥ २५ ॥
चिंतयन्निति यावत्स आस्ते वणिग्वनांतरे ।
मुषितस्तावत्तत्रत्यैश्चौर्यैककर्मपरायणैः ॥ २६ ॥
ततः शोकपिपासाभ्यां पीडितोऽसौ वणिग्वरः ।
गंतुं नालं पदं चैकं सुसुष्वाप तरोरधः ॥ २७ ॥
तत्र सुप्तः स अद्राक्षीत्स्वप्नमेकं वनांतरे ।
पयः पीत्वा करोति स्म जिह्वया लेहनं तथा ॥ २८ ॥
अथ जाग्रदवस्थः स चिंतयामास चेतसि ।
क सरः क जलं तच्च यन्मया पीतमंजसा ॥ २९ ॥
तद्वत्स्वप्ननिभां विद्धि मातुल मां च संपदम् ।
महतां हि कथं स्नेहो भवेदत्र कदाचन ॥ ३० ॥

इति श्रुत्वा कुमारस्य वार्त्तां विद्युच्चरस्तदा ।
जातो निरुत्तरस्तूर्णं मिथ्यैकांतादिवादिवत् ॥ ३१ ॥
अथ विद्युच्चरो दस्युर्मायया मातुलश्च यः ।
निरस्तोऽपि कथां कांचिदपरामब्रवीत्पुनः ॥ ३२ ॥
एकः कश्चिद्वणिग्वृद्धो गृहमेधी प्रियारतः ।
तस्य प्रिया प्रचंडास्य (स्ति) पुंश्चली नवयौवना ॥ ३३ ॥
सैकदादाय स्वर्णादि तद्गेहादपि निर्गता ।
विटाद्रतसुखं भोक्तुं स्वेच्छया कामलंपटा ॥ ३४ ॥
गच्छती सापि धूर्तेन केनचिल्लक्षिता क्षणात् ।
रंजिता मायिना तेन चाटुवाक्यकृता जवात् ॥ ३५ ॥
तामुद्दिश्यावदद्धूर्तः स्नेहकोमलया गिरा ।
सुंदरि त्वयि दृष्टायां मयि स्यात्स्नेहवर्धनम् ॥ ३६ ॥
न जानीमो विशालाक्षि कारणं त्वत्र कर्मणि ।
किं वा जन्मांतराबद्धो स्नेहोऽद्याप्यवशिष्यते ॥ ३७ ॥
सावादीच्चेदियं संस्था वर्तते तव चेतसि ।
तदा त्वमेव मे भर्ता नान्यश्चान्यादृशः क्वचित् ॥ ३८ ॥
ततस्तौ दंपती जातौ स्नेहवृद्धेः (द्धौ) परस्परम् ।
कामलीलां सुकुर्वंतौ यथेच्छं सुरतप्रियौ ॥ ३९ ॥
ततःप्रभृति कालोऽगात्कियान्बहुतरस्तयोः ।
एकदा सापि लुब्धा स्यात्सार्द्धमन्येन कामिना ॥ ४० ॥
अथ द्वाभ्यां रतं भुक्ते सा ज्वलत्स्मरशालिनी ।
निर्लज्जा निर्घृणा पापा मायामिथ्याभिशंसिनी ॥ ४१ ॥

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्काये कुर्वंति योषितः ।
अहो क्वापि न कर्तव्यो विश्वासस्तासु पंडितैः ॥ ४२ ॥
एकदा प्रथमो जारश्चिंतयामास दुष्टधीः ।
निगृह्णामि कथं चैनमनया भार्यया सह ॥ ४३ ॥
सोपायः स गतः शीघ्रं तलरक्षकसन्निधिम् ।
क्रोधाविष्टो महारौद्रमूचे दुश्चरितं तयोः ॥ ४४ ॥
तलरक्षक मद्वार्त्तां शृणु साश्चर्यकारिणीम् ।
रात्रौ कश्चित्समागत्य रमते मामकीं वधूम् ॥ ४५ ॥
अथ चेत्तं कथंचित्त्वं क्षमो धर्तुं निशीथिके ।
तदा ते स्वर्णलाभः स्यादित्युक्त्वा स गृहेऽगमत् ॥ ४६ ॥
क्रमाज्जाते निशीथेऽथ जाग्रन्नेव स्थितस्तदा ।
यः पूर्वोपपतिस्तस्या द्रष्टुं तच्चरितं स्वयम् ॥ ४७ ॥
अथागतो भोक्ता तस्या द्वितीयोपपतिः शनैः ।
तदंकात्सा समुत्थाय तत्समीपे गतेत्वरी ॥ ४८ ॥
तेन नीता भराद्भोक्तुं यावत्कामातुरेण सा ।
तावत्तत्रागतस्तूर्णं ग्रहीतुं तलरक्षकः ॥ ४९ ॥
तत्र कोलाहले जाते सा दुष्टा कपटान्विता ।
पुनर्व्याघुट्य सुष्वाप पूर्वोपपतिसन्निधौ ॥ ५० ॥
आगतास्ते महारौद्रास्तलरक्षकभृत्यकाः ।
ऊचुः कोऽत्र गृहे तिष्ठेद्विटो वा तस्करोऽथवा ॥ ५१ ॥
द्वितीयोपपतिर्वेगादुवाचान्वेषयंतु भोः ।
न जाने घूर्णमानोगो (नांगो) निद्रयाहं सुचूर्णितः ॥ ५२ ॥

इतोऽमुतस्ततो दृष्ट्वा बद्धः पूर्वपतिः शठैः ।
सोऽहं येनोक्तमेवैतत्सायं चेति वदन्नपि ॥ ५३ ॥
तं नीत्वाशुश्च स्वस्थाने घातयंतः पदे पदे ।
यष्टिमुष्टिप्रहारैश्च महानिर्दयमानसाः ॥ ५४ ॥
अथ सा चिंतयामास मम श्रेयः पलायनम् ।
अन्यथा निग्रहोऽस्माकं भविष्यति न संशयः ॥ ५५ ॥
विमृश्येति तया जारः शिक्षितः स्वीयवार्त्तया ।
अथ द्वौ दंपती भूत्वा गंतुं सार्द्धं समुद्यतौ ॥ ५६ ॥
नीत्वाथ यद्गृहे किंचिद्वस्त्रालंकरणादिकम् ।
उत्तमं बहुमूल्यं च जारेणामा[1] चचाल सा ॥ ५७ ॥
मार्गेऽगाधां नदीं प्राप्य पतिमन्योऽवदत्तदा ।
प्रिये वस्त्रादिकं मह्यं ददस्वाशु विशंकया (किता) ॥ ५८ ॥
समुत्तीर्य गते पारे स्थापयामि सुनिश्चलम् ।
एकत्र सुस्थिते स्थाने वस्त्रालंकरणादिकम् ॥ ५९ ॥
पश्चादागत्य स्वस्कंधे त्वामारोप्य प्रयत्नतः ।
वेगादुत्तारयिष्यामि निःप्रत्यूहतया प्रिये ॥ ६० ॥
स्वयं धूर्तापि विश्वासान्मन्यमाना तथैव सा ।
ददौ स्वर्णादिकं तस्मै प्रतीता पतिबुद्धितः ॥ ६१ ॥
सा स्वयं नग्निका भूत्वा तस्थावर्वाक्तटे क्वचित् ।
बीभत्सा निस्त्रपा दृश्या डाकिनीव भयंकरा ॥ ६२ ॥
अथोत्तीर्य गतः पारे तस्याश्चोपपतिर्जवात् ।
नागतः पुनरत्रासौ नेतुमेकाकिनीमिमाम् ॥ ६३ ॥

---

१ अमा=सह ।

सोवाच रे महाधूर्त मां मुक्त्वेह गतं त्वया ।
तेनोक्तं हे खले तत्र तिष्ठ त्वं पापशालिनि ॥ ६४ ॥
एतस्मिन्नंतरे कश्चिज्जंबुकः समुपागतः ।
उत्पुच्छं चालयन्नाशु मांसखंडं मुखे दधन् ॥ ६५ ॥
जलादुच्छ (च्च) लितं मत्स्यमेकं दृष्ट्वा स जम्बुकः ।
धावति स्म महालोभान्मुक्त्वा मांसं मुखे स्थितम् ॥ ६६ ॥
लातुमर्हति यावत्स मत्स्योऽगाद्वारिमध्यगः ।
मांसपिंडमितो गृद्धो नीत्वागात्काननांतरे ॥ ६७ ॥
उभभ्रष्टं तमालोक्य जंबुकं दैववंचितम् ।
सा कामिनी जहासोच्चैः पंडितंमन्यमानसा ॥ ६८ ॥
अविचार्य कृतं वै तज्जंबुकेन कुबुद्धिना ।
मुक्त्वा स्वाधीनमेवैतत्परायत्तं समिच्छता ॥ ६९ ॥
पारे स्थितोऽवदद्धूर्तो मर्मभिद्वचनं तदा ।
त्वयापि किं कृतं मूर्खे पश्यात्मानं सुनिश्चिता ॥ ७० ॥
अयं तिर्यग् न जानाति वाच्यावाच्यं हिताहितम् ।
त्वं विदग्धा स्वभर्तारं हत्वा चान्यरताभवत् ॥ ७१ ॥
तर्जयन्निति तां मुक्त्वा धूर्तोऽगात्स्वीयसद्मनि ।
तदा साधोमुखी जाता नारी लज्जापरा यथा ॥ ७२ ॥
तथा त्वमपि मा गच्छ भागिनेयोऽपहास्यताम् ।
त्यक्त्वा हस्तस्थितां लक्ष्मीमिच्छन् दूरे स्थितामहो ॥ ७३ ॥
ऊचे जंबूकुमारोऽसौ यत्कथां श्रुतिपेशलाम् ।
प्रसरद्दशनज्योतिरुद्द्योतितनिजालयः ॥ ७४ ॥

आसीद्वणिक्सुतः कश्चिद्वाहनव्यवसायवान् ।
एकदा पोतमारुह्य सोऽगाद्द्वीपांतरे क्वचित् ॥ ७५ ॥
सर्वं वस्तु सुविक्रीय रत्नमेकं समग्रहीत् ।
ततः स्वगृहमुद्दिश्य चचाल वणिजां वरः ॥ ७६ ॥
चिंतयन्निति स्वे चित्ते कार्यसंदोहमीहितम् ।
हस्ते संस्थाप्य तद्रत्नं विलोकयन्मुहुर्मुहुः ॥ ७७ ॥
वेलाकूलमितः प्राप्य विक्रियेऽहं महन्मणिम् ।
ग्रहीष्यामि गजाश्वादि विविधं वस्तु सुंदरम् ॥ ७८ ॥
ततो नृपसमो भूत्वा यास्यामि निजपत्तनम् ।
श्रिया च शोभया पूर्णो मंत्रिभृत्यादिसेवितः ॥ ७९ ॥
तत्रापि स्वगृहे स्थित्वा जीविष्यामि सुखं यथा ।
लालयन्पुत्रपौत्रादि पश्यन् योषित्सु सस्मितम् ॥ ८० ॥
एवं चिंतयतस्तस्य यावद्रत्नमपीपतत् ।
हस्तादब्धौ प्रमादाद्वा दुर्दैवाद्वा महाभ्रमा (?) ॥ ८१ ॥
मोघीभूतास्ततस्तस्य चिंतिताश्च मनोरथाः ।
न दृश्यते महारत्नं हाहाकारं प्रकुर्वता ॥ ८२ ॥
तथाहं न भविष्यामि मातुल त्वमवैहि भो ।
त्यक्त्वा धर्मफलं सौख्यं दुःखं भुंजामि संप्रति ॥ ८३ ॥
इत्युत्तरप्रदानेन स्वामिना कथितेन वै ।
निरस्तो मातुलो नाम्ना चौरो विद्युच्चरोऽभवत् ॥ ८४ ॥
पुनराह कथामेकां दस्युर्विद्युच्चरस्तदा ।
इतोऽपि मुरजो नूनं करोति मधुरध्वनिम् ॥ ८५ ॥

तद्यथा घातुकः कश्चिद्भिल्लोऽप्यासीद्धनुर्धरः ।
नाम्ना दृढप्रहारीति विंध्याद्रौ संवसन्निति ॥ ८६ ॥
तेनैकदा हतो वन्यो कुंजरो बाणसंहतेः ।
वारि पातुं तृषाक्रांतः समागच्छन् जलाशये ॥ ८७ ॥
दैवात्सोऽपि मृतो भिल्लो दष्टः सर्पेण तत्क्षणात् ।
अथ सोऽपि धनुर्घातान्मृतश्चाशु भुजंगमः ॥ ८८ ॥
मृतेष्वेतेषु जीवेषु गजभिल्लाहिषु स्फुटम् ।
आगतस्तत्र गोमायु[1]: क्षुधितः कालनोदितः ॥ ८९ ॥
पतितं चापि वीक्ष्याशु गजं भिल्लं सरीसृपम् ।
धनुश्चापि स हृष्टांगो जातो लोभाद्बुभुत्सया ॥ ९० ॥
चिंतति स्माथ गोमायुः कुंजरोऽयं मृतो महान् ।
भक्षयिष्यामि षण्मासं यावदेनं सुनिश्चलम् ॥ ९१ ॥
ततो मासैकपर्यंतममुं नरकलेवरम् ।
ततोऽप्येकदिनं यावत्सर्पं भोक्तास्मि निश्चितम् ॥ ९२ ॥
इमे यथास्थिताः सर्वे तिष्ठंतु कुंजरादयः ।
तावदद्य मया भोज्यो ज्याबद्धो गुण एव हि ॥ ९३ ॥
इति तं भक्षमाणोऽसौ गोमायुः पापपाकतः ।
मृतस्त्रुटच्छराघातात्तालुस्फोटेन दुःखितः ॥ ९४ ॥
यथा बहुसुखं चेच्छन् गोमायुर्मृत्युमागमत् ।
तथा त्वमैहिकं सौख्यं त्यक्त्वा मा गच्छ हास्यताम् ॥ ९५ ॥
मातुलोक्तं ततः श्रुत्वा प्रोचे जम्बूकुमारकः ।
किंचित्कथांतरं रम्यं प्रतिवाक्यदिदित्सया ॥ ९६ ॥

---

१ गां विकृतां वाचं मिनोति शृगाल इत्यर्थः ।

एकः कर्मकरः कश्चिदासीदतिदरिद्रवान् ।
वनादिन्धनमानीय विक्रीय कुरुतेऽशनम् ॥ ९७ ॥
अथैकदा महाभारं नीत्वा स्कंधे कथंचन ।
प्रतस्थे बत मध्याह्ने स्वालयं प्रति यत्नतः ॥ ९८ ॥
भाराक्रांतोऽथ पापात्मा तप्ततालुश्च तृष्णया ।
क्षणं सुष्वाप शांतः सन्नपभारस्तरोरधः ॥ ९९ ॥
सुप्तः स स्वप्नमद्राक्षीन्निद्रया कर्मकारकः ।
साम्राज्यपदमारूढं स्वात्मानं समपश्यत ॥ १०० ॥
आसीनं विष्टरे रम्ये मणिमौक्तिकभूषिते ।
चलच्चामरसंघातैर्वीज्यमानं मुहुर्मुहुः ॥ १०१ ॥
वंदिवृंदजयारावैः स्तूयमानं मनोहरैः ।
क्वापि यौवतमध्यस्थं कालकेलिरसाकुलम् ॥ १०२ ॥
गजाश्वादिपरीवारैर्वेष्टिते राजमंदिरे ।
अत्रांतरे स पादाभ्यां ताडितो यष्टिमुष्टिभिः ॥ १०३ ॥
भार्यया स्वस्य तत्रैत्य क्षुधापीडितया बलात् ।
उत्थितो जागरूकः स चिंतयामास कर्मकृत् ॥ १०४ ॥
क्वेयं लक्ष्मीः क्व साम्राज्यं दृष्टनष्टं क्षणादपि ।
तद्वन्माम कलत्रादि स्वप्नसाम्राज्यसन्निभम् ॥ १०५ ॥
जानीहि क्षणिकं सर्वं सद्यःप्राणापहारि च ।
मत्वेति माम को धीमान् जनो दुःखालयं व्रजेत् ॥ १०६ ॥
त्यक्त्वा स्वात्मोत्थितं सौख्यं जन्ममृत्युविनाशकृत् ।
जंबूस्वामिकथां श्रुत्वा प्रोचे विद्युच्चरः सुधीः ॥ १०७ ॥

१ युवतीनां समूहः ।

यामिनीपश्चिमे भागे तुर्यं चापि कथानकम् ।
एकः कश्चिन्नटोऽभिज्ञो कलाविज्ञानकोविदः ॥ १०८ ॥
आसीदत्र सुविख्यातो यथानामा कुतूहली ।
अथैकदा नृपस्याग्रे ननर्त्त बहुकौशलात् ॥ १०९ ॥
नर्तकीभिः समाकीर्णः सालंकारिभिरप्यसौ ।
तन्नृत्यं पश्यता राज्ञा प्रसन्नमनसा तदा ॥ ११० ॥
दत्तं स्वर्णादिकं ताभ्यः पट्टकूलादिकं तथा ।
राज्ञः प्रसादं नीत्वा ते सुषुपुस्तत्र निद्रया ॥ १११ ॥
रजन्यां जागरूकत्वाद्गंतुमक्षमका नटाः ।
अथ सुप्तेषु तेषूच्चैर्नर्तक्यादिजनेष्वाति ॥ ११२ ॥
नटवर्यस्तदा तस्थौ जाग्रन्नेव स पापधीः ।
जाग्रता चिंतितं तेन वंचकत्वधियाऽधिया ॥ ११३ ॥
नीत्वा हेमादि सर्वस्वं गच्छेयं नीवृदंतरे[1] ।
यथोत्पन्नं कृतं तेन नीत्वा सर्वस्वमंजसा ॥ ११४ ॥
गंतुकामो धृतस्तूर्णं जाग्रद्भिर्नर्तकीजनैः ।
चौरत्वेनाभियुक्तस्तैर्नीतो भूपस्य सन्निधिम् ॥ ११५ ॥
दृष्ट्वा रुष्टेन भूपेन कृतं चौरोचितं हि यत् ।
तद्वत्त्वं भागिनेयाहो जम्बूस्वामिन्महामते ॥ ११६ ॥
मागाद्बहर्थलाभाय शोच्यावस्थां कदाचन ।
जम्बूस्वामी निशम्यैतन्मातुलोक्तं कथांतरम् ॥ ११७ ॥
किंचित्कथांतरं रम्यं प्रोवाच प्रतिभान्वितः ।
वाराणस्यां सुविख्यातो भूपोऽप्यासीन्महत्तरः ॥ ११८ ॥

१ क्षणान्तरे ।

आख्यया लोकपालोऽसौ राज्यभारधुरंधरः ।
तस्य राज्ञी तु नाम्ना स्याद्बद्धपट्टा मनोरमा ।
कंदर्पस्य धनुर्यष्टिर्जिगीषोरिव भूपतेः ॥ ११९ ॥
अथान्येद्युः स भूमीशो जगामाशु स्वलीलया ।
आखेटकक्रियासक्तो वन्यान्हंतुं वनांतरे ॥ १२० ॥
अत्रांतरे महाराज्ञी राज्ञस्तस्य मनोरमा ।
कामुकी रंतुकामासीत्कामबाणैर्निपीडिता ॥ १२१ ॥
द्रुतं कांचित्समाहूय विदग्धामभिसारिकाम् ।
चित्तस्थं गूढमाकूतं सानुदूतीमवेदयत् ॥ १२२ ॥
मातर्मां च विजानीहि तद्बाधां सोढुमक्षमाम् ।
कातरां कुपिते कामे त्वयि तत्परमानसाम् ॥ १२३ ॥
तत्त्वं मे शरणं भूयाः सोद्यता मदनुग्रहे ।
आनयस्वाशु गत्वाथ सुंदरं तरुणं नरम् ॥ १२४ ॥
ततः सोचे महापापा दूती साहसिकं वचः ।
मय्यत्र सानुकूलायां मा दौस्थ्यं कुरु सुंदरि ॥ १२५ ॥
मोहयामि स्ववार्त्ताभिर्निष्काममपि योगिनम् ।
का कथा नरकीटानां कामाज्ञावशवर्तिनाम् ॥ १२६ ॥
अंतरे दैवयोगाद्वै स्वसौधस्थितया तया ।
दृष्टः कोऽपि युवा वीथ्यां पर्यटंस्तत्र लीलया ॥ १२७ ॥
नाम्ना चंग इति ख्यातः स्वर्णकारो दृढोरुकः ।
अयमेवोचितो रंतुं तया चेत्यवलक्षितः ॥ १२८ ॥
दृष्ट्वा तं मृगशावाक्षी[1] दूतीं प्रत्याह पुंश्चली ।
एनमानय सोपायैर्जीवनस्य कृते मम ॥ १२९ ॥

---

१ मृगस्य शावः पोतकः ।

प्रतस्थे सा तदादेशाद्दूती मायान्विता सती।
आनयामास तं वेगात्स्थिता यत्र मनोरमा॥ १३० ॥
सा राज्ञी रंतुकामा तं यावन्नीत्वा स्वसद्मनि।
शय्यातले समायाता सस्मरा सुरतोत्सवा॥ १३१ ॥
तावद्दैवाद्गजारूढो भूपोऽप्यत्र समागतः।
धृतातपत्रसच्छायो वीज्यमानः सुचामरैः॥ १३२ ॥
आगच्छंतं तमालोक्य राजानं स्वर्णकारकः।
व्याकुलोऽभूद्भयाक्रांतः कंपमानो मुहुर्मुहुः॥ १३३ ॥
गोपयित्वा तया चंगं कौशल्याद्गूढकूपके।
सन्मुखीभूय भूपालः स्नेहान्नीतः स्वसद्मनि॥ १३४ ॥
कामासक्तः स भूमीशः षण्मासं स्थितवानिह।
मनोरमां मुखांभोजगंधलुब्धमधुव्रतः॥ १३५ ॥
जीवनस्य कृते तत्र ग्रासमात्रं प्रयत्नतः।
भुक्तोच्छिष्टच्छलादेव क्षिपति स्म मनोरमा॥ १३६ ॥
एवं यावत्स षण्मासं तिष्ठंस्तत्रातिदुःखितः।
पांडुरोगी महापापाज्जातो दुर्गंधवासितः॥ १३७ ॥
अथ भूपाज्ञया नीचैः कूपे प्रक्षालिते जलैः।
चंगः प्रणालिकाद्वारान्निर्गत्यागात्सरित्तटे॥ १३८ ॥
तत्रत्यैः सर्वलोकैश्च पृष्टः साश्चर्यमानसैः।
कोऽसि त्वं ते कथं पांडु जातं कांचनसन्निभम्॥ १३९ ॥
चंगेनोक्तमहो लोका मत्सौन्दर्यावलोकनात्।
भोक्तुं पातालकन्याभिर्नीतोऽहं परमादरात्॥ १४० ॥

ततश्च गंतुकामं मां ज्ञात्वात्मीयगृहोन्मुखम् ।
चक्रुर्वैवर्ण्यमत्यंतं कोपाक्रांतास्तु ताः खलाः ॥ १४१ ॥
निसर्गतोऽपि यत्सत्यं न वंदति कदाचन ।
किं पुनः कारणं प्राप्य तद्यथा स्वर्णकारकः ॥ १४२ ॥
ततश्चापि क्रमादेव कृच्छ्राच्छद्मैर्गृहं प्रति ।
आगतश्चंगनामासौ कथंकथमिवात्महा ॥ १४३ ॥
तत्रानीतैर्महावैद्यैर्नीतः सौरभ्यमादरात् ।
सुगंधद्रव्यसंयोगैः शोभनांगोऽभवद्यथा ॥ १४४ ॥
अथैकदा गतस्तत्र वीथ्यां कार्यवशादिह ।
राजसौधसमीपस्थो दृष्टः सोऽपि तया स्त्रिया ॥ १४५ ॥
तथैव सस्मरा सोचे चंगमुद्दिश्य संज्ञया ।
आगच्छागच्छ भो भूयोऽप्येकशो मम सद्मनि ॥ १४६ ॥
चंगेनोक्तमलं स्नेहैस्तावकीयैः खलेऽधुना ।
यस्मात्तं त्वद्गृहाद्दुःखं विस्मरामि न तत्क्षणम् ॥ १४७ ॥
अद्यापि न तन्मद्देहाद्दौर्गन्ध्यं याति सर्वतः ।
उपसर्गाच्चेन्मुक्तोऽहं नाविमृश्यं करोम्यतः ॥ १४८ ॥
तद्वन्नाहं भविष्यामि सुखलेशस्य हेतवे ।
तिर्यगादिगतिष्वाहो जातुचिद्दुःखभाजनम् ॥ १४९ ॥
बहुप्रलपितेनालं मातुल त्वमवेहि भो ।
नाहमाक्ष्यं सुखं भुंजे समाधानशतैरपि ॥ १५० ॥
ज्ञात्वा विद्युच्चरो दस्युः कुमारं दृढमानसम् ।
स्तुतिं चक्रे सुनिर्विण्णः सोऽप्यासन्नभवः स्वतः ॥ १५१ ॥

अहो स्वामिन्नहो प्राज्ञ धन्योऽसि त्वं जगत्त्रये ।
मादृशां का कथा नाथ त्वं पूज्यस्त्रिदशैरपि ॥ १५२ ॥
संसारजलधेः पारं प्राप्तोऽसि त्वं महामते ।
धर्मकल्पतरोर्मूलं त्वं भेत्ता कर्मभूभृताम् ॥ १५३ ॥
इत्यादिस्तवनं कृत्वा तेन विद्युच्चरेण वै ।
निःशेषमात्मवृत्तांतं गदितं तस्करादिकम् ॥ १५४ ॥
अत्रांतरे दिगासीत्प्राग्रक्तवर्णा सुभास्वरा ।
जम्बूकुमारसंत्यक्तै रागैर्जातैरिवाध्वनिः ॥ १५५ ॥
केचित्सद्दृष्टयस्तत्र ध्यानसंलीनमानसाः ।
कायोत्सर्गपरा भव्या बभूवुः परमादरात् ॥ १५६ ॥
केचिच्छ्रीमज्जिनेशानां पूजां कर्तुं समुद्यताः ।
गंधधूपादिसामग्रीं स्वीकुर्वाणा बभुस्तराम् ॥ १५७ ॥
ततो वेगादुदेति स्म भानुमानुदयाचलात् ।
स्वामिनं द्रष्टुमौत्सुक्यादुद्यन्नेव गभस्तिभिः ॥ १५८ ॥
यत्प्रसादान्महासत्त्वा भुंजंति सुखमच्युतम् ।
शक्रचक्रपदं चैव सेव्यो धर्मः स धार्मिकैः ॥ १५९ ॥

इति श्रीजम्बूस्वामिचरित्रे भगवच्छ्रीपश्चिमतीर्थकरोपदेशानुसरित-स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदपण्डितराजमल्लविरचिते साधु-पासात्मजसाधुटोडरसमभ्यर्थिते विद्युच्चरकथा-चतुष्कवर्णनो नाम एकादशः पर्वः ।

---

१ किरणैः ।

अथ द्वादशः पर्वः ।

शिवमस्तु सदा तुभ्यं जैनशासनशासनात् ।
साधुपासांगजस्यास्य तव श्रीसाधुटोडर ॥ १ ॥ इत्याशीर्वादः ।

नमिं नमत्सुराधीशं पंचकल्याणभागिनम् ।
नेमिं धर्मरथस्येव नेमिं नौमि जगद्गुरुम् ॥ १ ॥

अथ प्रभातसमये यदभूच्छ्रेष्ठिनो गृहे ।
प्रवक्ष्यामि तदेवोच्चैर्यथावृत्तमनुक्रमात् ॥ २ ॥

नैशं तस्य कथावृत्तमश्रौषीच्छ्रेणिको नृपः ।
अर्हद्दासेन संप्रोक्तं स्वतो गत्वा नृपालयम् ॥ ३ ॥

क्षणं वैलक्ष्यमासाद्य सान्द्रस्नेहवशान्नृपः ।
धर्मबुद्ध्या पुनः सोऽयं ज्ञातश्चानंदनिर्भरः ॥ ४ ॥

नेदुर्दुंदुभयस्तत्र श्रेणिकस्याज्ञया तदा ।
केवलज्ञानसाम्राज्यपदावाप्तिर्जयावहा ॥ ५ ॥

मृदंगानकनादैश्च व्याप्तो भूवलयस्तदा ।
कल्याणेष्वेव तीर्थेशां व्योममार्गे यथामरैः ॥ ६ ॥

आगतः श्रेणिको भूपः सोत्सुकः श्रेष्ठिनो गृहे ।
स्नेहार्द्रः सकुटुम्बश्च वंदितुं स्वामिपंकजम् ॥ ७ ॥

नेत्रवक्त्रादिचेष्टाभिर्निर्विकाराभिरस्य वै ।
वीरं वैराग्यमारूढं स्वामिनं सोऽप्यजिज्ञपत् ॥ ८ ॥

ज्ञात्वा स भूषयामास स्वामिनं भूषणादिभिः ।
जानन्नपि विरागं तं भावशुद्ध्यर्थमात्मनः ॥ ९ ॥
चंदनादिद्रवैरंगं चर्चितं स्वामिनो बभौ ।
यथा मेरौ जिनेशस्य भूपेनेवामरेशिना ॥ १० ॥
सशेखरं शिरस्तस्य शोभामापातिशायिनीम् ।
स्वयंवराय मुक्तश्रीकामिन्या इव संस्तुतम् ॥ ११ ॥
ततः सानुमतिर्भूत्वा भूपतिः श्रेष्ठिना सह ।
शिबिकायां स्वहस्ताभ्यां स्थापयामास स्वामिनम् ॥ १२ ॥
वने गंतुं समुद्युक्तं स्वामिनं तपसः कृते ।
सर्वः पौरजनस्तत्रागमद्वीक्षितुमादरात् ॥ १३ ॥
सद्मकार्याण्यतीत्यापि धावंती जनसंहतिः ।
अद(इ)ष्टमिव तं द्रष्टुमाजगाम सकौतुकात् ॥ १४ ॥
मुक्तभार्याचतुष्कोऽसौ सिद्धिसौख्याभिलाषवान् ।
धन्योऽयमिति सर्वेऽपि जजल्पुस्ते परस्परम् ॥ १५ ॥
हाहाकारो महानासीत्तदा राजगृहे पुरे ।
केचित्तत्स्नेहसंसक्ता मुमूर्च्छुरिव दुःखिताः ॥ १६ ॥
अत्रांतरे समायाता माता जिनमती सती ।
स्रवदश्रुसमाक्रांतं गद्गदं चाभिजल्पति ॥ १७ ॥
प्रतीक्षस्व क्षणं यावत्पुत्र मां मातरं प्रति ।
इति दीनगिरं मोहादुद्गिरंती मुमूर्च्छया ॥ १८ ॥
नष्टचेष्टामिवालोक्य श्वश्रूं तावद्वधूजनः ।
विललाप महामोहात् सशोकां गिरमुद्गिरन् ॥ १९ ॥

हा नाथ मन्महाप्राण हा कंदर्पकलेवर ।
अनाथा वयमद्याहो विनाप्यागाकृताः कथम् ॥ २० ॥
धिग्दैवं येन दत्तास्य तपसे बुद्धिरुत्कटा ।
पश्यता स्म महादुःखं तत्कारुण्यमकुर्वता ॥ २१ ॥
अद्यापि भो कृपानाथ प्रसीद कुरु मार्दवम् ।
भुंक्ष्व भोगाश्वभोगाभान्नित्यूचुस्ताः प्रियास्तदा ॥ २२ ॥
रेजुर्वयं कथं नाथ त्वां विना दीनवृत्तयः ।
यथा चन्द्रादृते रात्रिरिति दीनागिरश्च ताः ॥ २३ ॥
ततः सोपायमालंब्य चंदनादिद्रवैरपि ।
यत्नैर्जिनमती नीता ताभिश्चेतनतां तदा ॥ २४ ॥
सावधाना तदा प्रोचे माता जिनमती सती ।
वीरवैराग्यमारूढं स्वामिनं प्रति प्रश्रयात् ॥ २५ ॥
क्वेदं तव वपुर्वत्स कदलीगर्भकोमलम् ।
खड्गधारानिभं पुत्र क्वेदमुग्रतरं तपः ॥ २६ ॥
अंगुष्ठाज्ज्वलितो वह्निर्यथा याति स्वमस्तके ।
तथा तपो विजानीहि तस्मादप्यतिरिक्तकम् ॥ २७ ॥
कर्तुं भूशयनं बाल कथं शक्नोषि दुःखदम् ।
बाहुमुच्छीर्षकं कृत्वा गमिष्यसि कथं निशाम् ॥ २८ ॥
अप्यावां (हि) परित्यज्य पितरौ कोमलाशयौ ।
विना गा (?) दुःखितौ कृत्वा कथं यासि वनांतरे ॥ २९ ॥
इमा वध्वश्चतस्रोऽपि त्वामृते दुःखपूरिताः ।
एकाकिन्यो न शोभंते भावशून्याः क्रिया इव ॥ ३० ॥

इत्यादिबहुधालापैर्विलपंतीमिवातुराम् ।
मातरं प्रति प्रोवाच जम्बूस्वामी दृढाशयः ॥ ३१ ॥

मातः शोकं जहीहि त्वं कातरत्वं परित्यज ।
भावयाजस्रमेवेमामनित्यां संसृतिस्थितिम् ॥ ३२ ॥

आदौ वैषयिकं सौख्यं मातर्भुक्त्वोज्झितं मया ।
बहुशोऽपि यतस्तद्धि न समीहामहे वयम् ॥ ३३ ॥
स्वर्गेऽपि यन्महाभोगैर्नागात्तृप्तिमयं जनः ।
एभिः स्वप्ननिभैर्मर्त्यैः स कथं तृप्तिमाप्नुयात् ॥ ३४ ॥
न जाने कियतो वारानभवं नारकः सुरः ।
तिर्यक्चापि नरश्चाहं भूत्वा भूत्वा पुनः पुनः ॥ ३५ ॥

उक्तं च—

" कति न कति न वारान् भूपतिर्भूरिभूतिः
कति न कति न वारानत्र जातोऽस्मि कीटः ।
नियतमिति न कस्याप्यस्ति सौख्यं न दुःखं
जगति तरलरूपे किं मुदा किं शुचा वा ॥ १ ॥"
इति प्रभृतिवाक्यांशैरुचितैरमृतोपमैः ।
मातरं प्रतिबोध्यांशु निरगात्स निजालयात् ॥ ३६ ॥
गच्छन्ननुवनं रेजे तदासौ विमुखो गृहात् ।
त्रुटद्बंधनस्वच्छंदो महागज इव द्रुतम् ॥ ३७ ॥
स्तुवंति स्म तदा तुष्टाः सर्वेऽप्यासन्नभव्यकाः ।
तृणाय मन्यमानं तं पदं साम्राज्यसन्निभम् ॥ ३८ ॥

अथानंदसमायुक्तैः श्रेणिकादिनृपादिभिः ।
शिविकायां स्थितो नीतो हस्ताद्धस्तैः स काननम् ॥ ३९ ॥
फलपुष्पसमाकीर्णमकालेऽपि फलोदयम् ।
तदा तत्काननं रेजे किंचिन्मृष्टविशेषकम् ॥ ४० ॥
अनिलोद्धूतशाखाग्रैश्चलमानैरितस्ततः ।
जम्बूस्वामिकुमारस्यागमे नृत्यमिवातनोत् ॥ ४१ ॥
तत्रस्थं मुनिमानम्य गुरुं सौधर्मसंज्ञकम् ।
उपविष्टो यथास्थाने कुमारोऽभिमुखं मुनेः ॥ ४२ ॥
उत्तमांगे स विन्यस्य कुड्मलीकृतहस्तकम् ।
तेन जम्बूकुमारेण विज्ञप्तो मुनिरादरात् ॥ ४३ ॥
कृपासागर सद्वृत्त मामुद्धर भवार्णवात् ।
नानादुःखशतावर्तैर्निमज्जंतं कुयोनिषु ॥ ४४ ॥
अद्य मे करुणां कृत्वा देहि दीक्षां भवापहाम् ।
पावनीं सस्पृहां सर्वैः कर्मनिर्मूलनक्षमाम् ॥ ४५ ॥
लब्धानुज्ञः स शुद्धात्मा गुरोः सर्वसमक्षतः ।
अंगादुत्तारयामास भूषणानि विरक्तधीः ॥ ४६ ॥
तावत्पुष्पस्रजो मुक्ताः स्वकिरीटाग्रकोटितः ।
दूरीकृता बलादेव मन्मथस्य शरा इव ॥ ४७ ॥
आक्षिपन्मुकुटं मूर्द्ध्नो हेलया रत्ननिर्मितं ।
मानौन्नत्यमिवाशेषं निर्जयान्मोहभूपतेः ॥ ४८ ॥
ततोऽप्युत्तारयामास हारावल्याद्यलंकृतान् ।
मुद्रिकादींश्च सद्रत्ननिर्मितानंगतः स्फुटम् ॥ ४९ ॥

ततस्तत्याज वस्त्राणि श्लक्ष्णानीव निजान्वयात् ।
पटलानीव मायायाः क्षणादेव विचक्षणः ॥ ५० ॥
तुत्रोट कटिसूत्रं च घटितं मणिवेष्टितं ।
दृढं बंधनमस्येव संसारस्य महाद्विषः ॥ ५१ ॥
ततः कुंडलयुग्मं च न्यक्कृतं कर्णयोः स्थितं ।
त्रुटद्भवरथस्येव चक्रयुग्ममिवामुना ॥ ५२ ॥
कचलोचः कृतस्तेन कराभ्यां स्वस्य लीलया ।
पंचमुष्टि यथाम्नायमोक्षमश्रोत्स्वराम्निति ॥ ५३ ॥
ततश्चांगीकरोति स्म गुरोरादेशतः क्रमात् ।
शुद्धान्मूलगुणान्सर्वानष्टाविंशतिसंमितान् ॥ ५४ ॥
महाव्रतानि पंचैव स्मृताः समितयस्तथा ।
इंद्रियाणां निरोधश्च पंचधेति प्रकीर्त्तितः ॥ ५५ ॥
लोचश्चैको गुणो मुख्यः षोढावश्यकसत्क्रिया ।
अचेलत्वं ततः प्रोक्तं शुद्धचारित्रधारिभिः ॥ ५६ ॥
अहिंसाव्रतसिद्ध्यर्थं यतीनां स्नानवर्जनम् ।
प्राशुकावनौ शयनं वैराग्यादिविवृद्धये ॥ ५७ ॥
दंतकाष्ठादिभोगश्च विरागाणामनुत्तमः ।
गल्लूषादिक्रिया चापि कर्त्तव्या न यतीश्वरैः ॥ ५८ ॥
कायोत्सर्गेण भोक्तव्यं स्थितिभोजनमेकशः ।
केवलं देहसिद्ध्यर्थं न भोगार्थं कदाचन ॥ ५९ ॥
एते मूलगुणाः प्रोक्ताः श्रमणानां जिनेश्वरैः ।
संत्युत्तरगुणाश्चापि लक्षाश्चतुरशीतिकाः ॥ ६० ॥

सर्वेऽप्यामरणं नीत्वा पालनीया मुमुक्षुभिः।
एतत्समुदितं सर्वं निश्चितं स्यान्मुनिव्रतम् ॥ ६१ ॥
इत्युक्तं गुरुणा स्वेन गुरुणा सद्गुणैरपि।
श्रुत्वा जम्बूकुमारोऽसौ सर्वं जग्राह शुद्धधीः ॥ ६२ ॥
ततो जयजयारावं चक्रुः सर्वेऽपि संमुदा।
श्रेणिकप्रमुखा भूपाः सर्वे पौरजनास्तथा ॥ ६३ ॥
ततः केचित्तु भूपालाः शुद्धसम्यक्त्वभूषिताः।
बभूवुर्मुनयो नूनं यथाजातस्वरूपकाः ॥ ६४ ॥
केचिन्मोहावृतेस्तत्र क्लीबत्वेन कदर्थिताः।
श्रावकस्य व्रतान्युच्चैस्तेऽपि जगृहुः सादरात् ॥ ६५ ॥
अथ विद्युच्चरो दस्युर्विरक्तो भवभोगतः।
सर्वसंगपरित्यागलक्षणं व्रतमग्रहीत् ॥ ६६ ॥
सार्धं पंचशतैर्भूपपुत्रैरासीत्स संयमी।
दस्युकर्मरतैः सर्वैः प्रभवादिसुसंज्ञिकैः ॥ ६७ ॥
अतः परं सुनिर्विण्णः सोऽर्हद्दासो वणिग्वरः।
सकलत्रं गृहं त्यक्त्वा दृढोऽभून्मुनिकुंजरः ॥ ६८ ॥
सुप्रभाक्षांतिका पार्श्वे माता जिनमती ततः।
संसारासारतां मत्वा स्यादार्यिका (याः) व्रतान्विता ॥ ६९ ॥
पद्मश्रीप्रमुखा वध्वो वीक्ष्य संसृतिसंस्थितिम्।
सुप्रभां गणिनीं नत्वा गृह्णंति स्म तपो महत् ॥ ७० ॥
प्रणम्याशु ततः सर्वान् सौधर्मादिमुनीश्वरान्।
जग्मुः श्रेणिकभूपाद्याः प्रतिसद्मसमुत्सुकाः ॥ ७१ ॥

कृतार्थं मन्यमानः स स्वात्मानं सद्व्रतान्वितः ।
कृतोपासविधिस्तत्र स्थितो वाचंयमी वने ॥ ७२ ॥
यथाशक्ति समाधाय तेऽपि विद्युच्चरादयः ।
नीत्वोपवाससंख्याश्च तस्थुर्ध्यानावलंबिनः ॥ ७३ ॥
सिद्धभार्क्ति समाध्यंते पठित्वाथ महामुनिः ।
प्रतस्थेऽतोऽनघे मार्गे पारणायै कृतोद्यमः ॥ ७४ ॥
विशन्राजगृहे रम्ये पुरे शोभात् सुसंयतः ।
अहो पुण्यपदार्थोऽयमायातो मूर्तिमानिव ॥ ७५ ॥
आगच्छंतं तमालोक्य दूरादानम्रमस्तकाः ।
प्रणेमुः श्रावकाः सर्वे श्रेयोऽर्थं वीतमत्सराः ॥ ७६ ॥
केचिच्चित्रमिवालोक्य संजजल्पुः सविस्मयम् ।
योऽभू (द्) ग्राग्रणीः पूर्वं सोऽयं जातो मुनीश्वरः ॥ ७७ ॥
अहो दैवस्य वैचित्र्यं कर्मणां रसपाकतः ।
को वेत्ति किं कथं भावि ज्ञानादन्यत्र मादृशः ॥ ७८ ॥
केचिद्दानरसाः शक्ताः प्रतिग्राहितुमुत्सुकाः ।
तस्थुर्व्यस्ताः स्ववीथ्यंतर्मार्गालोकनतत्पराः ॥ ७९ ॥
वदंति स्म जनाः केचित् स्वामिन्नत्र कृपां कुरु ।
पवित्रीकुरु नो वेश्म चरणाम्बुजरेणुभिः ॥ ८० ॥
तिष्ठ तिष्ठात्र मद्गेहे जम्बूस्वामिन्महामुने ।
प्राशुकान्नं गृहाणाद्य निरवद्यं भक्त्या (मया) र्पितम् ॥ ८१ ॥
इहैवागच्छ मद्गेहमिहैवागच्छ मद्गृहम् ।
ऊचुराम्रेडितं[1] भव्या मिथः केचिदितोऽमुतः ॥ ८२ ॥

---

[1] आम्रेडितं द्विस्त्रिरुक्तं इत्यमरः ।

काचिदूचे वयस्योऽयं मन्मथाकारविग्रहः ।
सुकरांगः कथं कुर्यात्तपो दुष्करमंजसा ॥ ८३ ॥
अगमद्वंदनाव्याजात्काचिदाशी(रा?)न्निरीक्षतुम् ।
कामदेवनिभं देवमकाममपि स्वामिनम् ॥ ८४ ॥
इत्यादिविविधालापैः संवदत्सुजनेष्वपि ।
अगादचिंत्यवृत्त्यासौ जिनदासस्य सद्मनि ॥ ८५ ॥
नवकोटिविशुद्धं स जग्राहाहारमल्पशः ।
अभूद्दानातिशायित्वात्पंचाश्चर्यं तदंगणे ॥ ८६ ॥
नीत्वाहारं स शुद्धात्मा निरीहोऽपि समीहया ।
कृतेर्यापथसंशुद्धिश्चचालानुवनं मुनिः ॥ ८७ ॥
क्रमादाप वनस्यांते पार्श्वे सौधर्मसन्मुनेः ।
सर्वतः सुतपःसिद्ध्यै निर्वाणस्य महौजसः ॥ ८८ ॥
अथ सौधर्मसंज्ञस्य मुनेः कतिपयैर्दिनैः ।
प्रादुरासीत्स्वभावोत्थं केवलज्ञानमंजसा ॥ ८९ ॥
पादमूलेऽस्य सर्वार्थवेदिनोऽनंतधर्मणः ।
चरति स्म तपश्चोग्रं जम्बूस्वामी महामुनिः ॥ ९० ॥
तपोऽनशननन(?)माद्यं करोति स्म स सादरात् ।
वेगादात्मविशुद्ध्यर्थमाह्निसंख्या पुरःसरम् ॥ ९१ ॥
द्वितीयमवमौदर्यं चरति स्म तपो महत् ।
एकग्रासादिकं भुंजन्नोदनं सजलं शमी ॥ ९२ ॥
विधाय सद्मसंख्यादि यथालुब्धमलुब्धकः ।
वृत्तिसंख्यानमेवैतत्तृतीयं तप आसदत् ॥ ९३ ॥

१ सुकोमलाङ्गः ।

समाचरस्तपस्तुर्यं रसानां परिहापनम् ।
हृषीकाणां निषेधाय स्मरोद्रेकस्य शांतये ॥ ९४ ॥
शून्यागारवनाद्यद्रौ चकार वसतिं वशी ।
तपोऽदः पंचमं नाम्ना विविक्तशयनासनम् ॥ ९५ ॥
षष्ठसंज्ञं समाख्यातं कायक्लेशाभिधं तपः ।
महोपसर्गजैत्रास्त्रं कर्त्तव्यं सुमनीषिभिः ॥ ९६ ॥
इदं बाह्यं तपः षोढा चर्करीति स्म हेलया ।
जम्बूस्वामी महावीर्यो धैर्यस्यैकपदं महत् ॥ ९७ ॥
अभ्यंतरं तपः प्रोक्तं प्रायश्चित्तं यदादिमम् ।
कुमारः स्वीकरोति स्म लब्धान्वर्थाभिधानकम् ॥ ९८ ॥
निश्चयादात्मधर्मेषु मोक्षमार्गेष्वनुद्धतः ।
विनयं तमकार्षीत् स यथास्वं परमेष्ठिषु ॥ ९९ ॥
नातिक्रमो मुनीशानां नमस्कारक्रियादिषु ।
वैयावृत्यं तपः प्रोक्तं तत्तृतीयं सुखप्रदम् ॥ १०० ॥
शुद्धस्वात्मानुभूतेः स्यादभ्यासात् परमं तपः ।
स्वाध्यायं निश्चयाच्छुद्धं चतुर्थमकरोन्मुनिः ॥ १०१ ॥
शरीरोपाधिभेदेषु ममत्वपरिवर्जनं ।
व्युत्सर्गाख्यं तपस्तच्च पंचमं मुनिना कृतम् ॥ १०२ ॥
ततोऽप्यनुत्तरध्यानं तपः षष्ठमनुत्तरम् ।
कृत्स्नचिंतानिरोधेन यच्चैतन्यावलंबनम् ॥ १०३ ॥
षोढेत्याभ्यंतरं शुद्धं तत्तपो मुक्तिकारणम् ।
स निर्विण्णमनाः सर्वं निरतिचारमाददे ॥ १०४ ॥

अप्यभिव्यक्तरूपश्च जातजातस्वरूपतः ।
गुप्तो गुप्तित्रयेणोच्चैर्वाङ्मनोयोगनिग्रहात् ॥ १०५ ॥
कषायारिचमूं जेतुं बद्धकक्ष इवाबभौ ।
धृत्वा प्रशमजैः शस्त्रं सन्मुखं योद्धुमुद्धतः ॥ १०६ ॥
मन्मथस्य प्रियामारादर्तिं प्रागेव निघ्नता ।
प्रवारितो भटो मारो हेलया येन निर्जितः ॥ १०७ ॥
द्वादशांगमहाविद्यावारिधेः पारगः सुधी ।
द्रव्यभावादिभेदेन नैकधार्थप्रपंचकः ॥ १०८ ॥
एवमष्टादशाब्दानां व्यतिक्रांता इव क्षणं ।
जम्बूस्वामिनि घोरोग्रं तपः कुर्वति नैकधा ॥ १०९ ॥
तपोमासे सिते पक्षे सप्तम्यां च शुभे दिने ।
निर्वाणं प्राप सौधर्मो विपुलाचलमस्तकात् ॥ ११० ॥
अनंतसुखपाथोधौ निमग्नं बलभूषितम् ।
अनंतदर्शनज्ञानं तमहं नौमि श्रेयसे ॥ १११ ॥
तत्रैवाहनि यामार्धव्यवधानवति प्रभोः ।
उत्पन्नं केवलज्ञानं जम्बूस्वामिमुनेस्तदा ॥ ११२ ॥
नष्टे मोहरिपौ ज्ञानदर्शनावरणक्षये ।
आसीत्प्रत्यासनस्तस्य ज्ञानं वीर्यावृतेः क्षयम् ॥ ११३ ॥
ततः केवलपूजार्थमाजग्मुस्त्रिदशालयाः ।
सोत्साहा सपरीवारा निजर्द्ध्यादिसमन्विताः ॥ ११४ ॥
प्रणेमुस्त्रिःपरीत्याथ स्वामिनं त्रिजगद्गुरुम् ।
उच्चैर्जयजयारावमुच्चरंतोऽमराधिपाः ॥ ११५ ॥

पूजयित्वाथ सामग्र्या तुष्टुवुः प्रभुमादरात् ।
गद्यपद्यादिसद्वृत्तैरनौपम्यैः सुरेश्वराः ॥ ११६ ॥
जय प्रचंडकंदर्पदर्पसर्पापह प्रभो ।
जय केवलमार्त्तंड प्रकाशितजगत्त्रय ॥ ११७ ॥
स्तुत्वेति बहुधा स्तोत्रैः प्रांत्यकेवलिनं जिनम् ।
ययुर्देवा निजं धाम मन्यमानाः कृतार्थताम् ॥ ११८ ॥
विजहर्ष ततो भूमौ श्रितो गंधकुटीं जिनः ।
मगधादिमहादेशमथुरादिपुरीस्तथा ॥ ११९ ॥
कुर्वन् धर्मोपदेशं स केवलज्ञानलोचनः ।
वर्षाष्टादशपर्यंतं स्थितस्तत्र जिनाधिपः ॥ १२० ॥
ततो जगाम निर्वाणं केवली विपुलाचलात् ।
कर्माष्टकविनिर्मुक्तः शाश्वतानंतसौख्यभाक् ॥ १२१ ॥
ततोऽनंतरमेवासावर्हद्दासो मुनीश्वरः ।
अंते सल्लेखनां कृत्वा षष्ठेऽभूद्दिवि देवराट् ॥ १२२ ॥
नाम्ना जिनमती सापि कृत्वा सल्लेखनां शुभाम् ।
ब्रह्मोत्तरे सुरेन्द्रोऽभूच्छित्वा योषित्कुलिंगकं ॥ १२३ ॥
ततो वध्वश्चतस्रस्ता वासुपूज्यजिनालये ।
मृत्वा चंपापुरे तत्र देवीजाता महर्द्धिकाः ॥ १२४ ॥
अथ विद्युच्चरो नाम्ना पर्यटन्निह सन्मुनिः ।
एकादशांगविद्यायामधीती विदधत्तपः ॥ १२५ ॥
अथान्येद्युः स निःसंगो मुनिपंचशतैर्वृतः ।
मथुरायां महोद्यानप्रदेशेष्वगमन्मुदा ॥ १२६ ॥

तदागच्छत्स वैल(र)क्त्यं भानुरस्ताचलं श्रितः ।
घोरोपसर्गमेतेषां स्वयं द्रष्टुमिवाक्षमः ॥ १२७ ॥
अब्रवीच्चंडमारीति काचित्तद्वनदेवता ।
मुने पंचदिनान्यत्र स्थातव्यं न त्वयाधुना ॥ १२८ ॥
आगत्य सप्त (?) यात्रायै भूतप्रेतादयस्त्विह ।
क्षुद्रा बाधां करिष्यंति युष्माकं सोढुमक्षमां ॥ १२९ ॥
अतस्त्वैतत्परित्यज्य स्थानमन्यत्र गम्यताम् ।
दुर्निमित्तं त्यजंति ज्ञाः संयमध्यानसिद्धये ॥ १३० ॥
इत्युक्त्वा सा गता तूर्णं चंडमारी निजालयम् ।
ऊचे विद्युच्चरः प्राज्ञो मुनिमुद्दिश्य साम्यतः ॥ १३१ ॥
अहो वृद्धगणा यूयं मा कुर्वंतु हठक्रियाम् ।
निष्प्रमादतया चातः स्थानादन्यत्र गम्यताम् ॥ १३२ ॥
श्रुत्वैतन्मुनयः केचिदूचुर्निःशंकिताशयाः ।
अस्तं गते दिवानाथे नेयं कालोचितक्रिया ॥ १३३ ॥
विभ्यतां कीदृशो धर्मः स्वामिन्निःशंकिताभिधः ।
उपसर्गसहो योगी प्रसिद्धः परमागमे ॥ १३४ ॥
भवत्वत्र यथाभाव्यं भाविकर्मशुभाशुभम् ।
तिष्ठामो वयमद्यैव रजन्यां मौनवृत्तयः ॥ १३५ ॥
निशम्यैतद्वचस्तेषां तस्थौ विद्युच्चरो मुनिः ।
नैशं योगं प्रतिष्ठाप्य मौनमालंब्य धीरधीः ॥ १३६ ॥
ततोऽन्धतमसा व्याप्तमाशामास्यं दुरीक्षणात् ।
विश्वं जिघत्सुमायातो लयःकाल इव क्षणात् ॥ १३७ ॥

अत्रांतरे समायाता भूतप्रेताश्च राक्षसाः ।
इतोऽमुतश्च धावंतो भीषणाकृतिधारकाः ॥ १३८ ॥
केचिन्मशकदंशा दंदशूकनिभाः परे ।
केचित्तु कुक्कुटाकाराः सतीक्ष्णा नखचंचवः ॥ १३९ ॥
फेत्कारादिरवं केचित्कुर्वंतोऽतिभयानकाः ।
नभस्युल्लालयंत्युच्चैर्मांसखंडानितस्ततः ॥ १४० ॥
सद्यः श्रोणितसंलिप्तकपालांकितपाणयः ।
निर्यद्धूमाग्निभीमास्याः कंठबद्धास्थिसंचयाः ॥ १४१ ॥
रक्ताक्षा व्याददानास्याः केचिद्ध्वस्तोर्ध्वमूर्द्धजाः ।
उरुस्थरुंडमालास्ते हसंत इव लीलया ॥ १४२ ॥
गृहाणैनं गृहाणैनं मारयेति वचोन्विताः ।
सहुंकाररवं रौद्रा रोषादष्टाधराः परे ॥ १४३ ॥
महीमास्फाल्य मंक्ष्वेनं ताडयेत् फुक्तिभीषणाः ।
प्रेरयैनं मरुन्मार्गे केचित्संत्रासनिर्दयाः ॥ १४४ ॥
इत्यादिविविधोपायैः पापाः पापक्रियारताः ।
चक्रुर्महोपसर्गं ते मुनीनां वक्तुमक्षमं ॥ १४५ ॥
तदा विद्युच्चरो धीरो महाधैर्यपरायणः ।
चिंतयन्निति चित्ते स्वे शुद्धा द्वादशभावनाः ॥ १४६ ॥
जीवनाशां परित्यज्य कृत्वा सन्यासमादरात् ।
इवाकिंचित्करत्वं तन्मन्यमानः स्थिरोऽभवत् ॥ १४७ ॥
ततो यथा स्वमन्येपि मुनयः स्वस्थचेतसः ।
उपसर्गसहा जाता ज्ञातसंसृतिलक्षणाः ॥ १४८ ॥

१ भूमौ । २ आकाशमार्गे ।

स्वाध्यायनिरताः केचित्केचिद्ध्यानावलंबिनः ।
केचित्कर्मविपाकज्ञा तस्थुर्मेरुरिवाचलाः ॥ १४९ ॥

धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो धर्मं बुधाश्चिन्वते
धर्मेणैव समाप्यते शिवसुखं धर्माय तस्मै नमः ।
धर्मान्नास्ति परः सुहृद्भवभृतां धर्मस्य मूलं दया
तस्मिन् श्रीजिनधर्मशर्मनिरतैर्धर्मे मतिर्धार्यताम् ॥ १५० ॥

इति श्रीजम्बूस्वामिचरित्रे भगवच्छ्रीपश्चिमतीर्थकरोपदेशानुसरित-स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदपण्डितराजमल्लविरचिते साधु-पासासुतसाधुटोडरसमभ्यर्थिते जम्बूस्वामि-निर्वाणगमनवर्णनो नाम द्वादशः पर्वः ।

अथ त्रयोदशः पर्वः ।

भूयात्स शर्मणे जम्बूस्वामी निष्कर्मतां श्रितः ।
साधुपासांगजस्यास्य तव श्रीसाधुटोडर ॥ १ ॥ इत्याशीर्वादः ।
पार्श्वनाथमहं नौमि हंतारं विघ्नकर्मणाम् ।
वर्द्धमानं सुनाम्नापि प्रमाणाच्च निजोन्नतम् ॥ १ ॥
अथोपसर्गसंभूतौ ते च विद्युच्चरादयः ।
मुनयो भावयामासुरिमाः षोडशभावनाः ॥ २ ॥
अनित्या शरणा चैव संसृतेश्चानुचिंतनम् ।
एकत्वचिंतनं चैत्रमन्यत्वं च ततः परम् ॥ ३ ॥
अशुच्यास्रवसंज्ञे द्वे संवरो निर्जरा ततः ।
लोकसंस्था तथा बोधिदुर्लभो धर्म एव च ॥ ४ ॥
संवेगवर्धनाद्यर्थमेषां तत्त्वानुचिंतनम् ।
अनुप्रेक्षाः स्मृतास्ताश्च द्वादशैवानुपूर्वतः ॥ ५ ॥
ये याता यांति यास्यंति यमिनः पदमव्ययम् ।
द्वादशैताश्च ताः सर्वा भावयित्वा सुभावनाः ॥ ६ ॥
अन्यत्वं सर्वमेवैतद्वस्तुजातं चराचरं ।
वैभाविकस्वभावत्वात्कर्मणां रसपाकसात् ॥ ७ ॥
आफलोदयमेवैतत्कर्मव्रीह्यादिवत्स्वतः ।
तन्निर्माणं कथं लोके नित्यं भवितुमर्हति ॥ ८ ॥
अतः कर्मोदयाज्जाताः पर्याया वपुरादयः ।
स्वानुभूत्यैकमात्रत्वाद्भिन्नास्ते क्षणभंगुराः ॥ ९ ॥

प्रमाणादागमाच्चापि स्वानुभूतेः समक्षतः ।
तेषामनित्यसंसिद्धौ को विमुह्येत् प्रगल्भधीः ॥ १० ॥
कृत्वावधिं सहस्रांशुरुदेत्यत्र महीतले ।
कृत्वावधिं तथा जीवा उत्पद्यंते चतुर्गतौ ॥ ११ ॥
यथा वृक्षात्फलं पक्कं विश्लिष्टमनुभूतलं ।
आवश्यकं पतत्येतत्तथा तनुभृतोऽप्यमी ॥ १२ ॥
जीवितं चपलं लोके जलबुद्बुदसन्निभम् ।
रोगैः समाश्रिता भोगा जराक्रांतं हि यौवनम् ॥ १३ ॥
सौन्दर्यं च क्षणध्वंसि संपदो विपदंतकाः ।
मधुबिंदूपमं पुंसां सौख्यं दुःखपरंपरा ॥ १४ ॥
इंद्रियारोग्यसामर्थ्यंचलान्यभ्रोपमानि च ।
इन्द्रजालसमानानि राजसौधधनानि च ॥ १५ ॥
पुत्रपौत्रकलत्रादि मित्रबांधवसज्जनाः ।
संपांवच्चपलरूपाश्च दृष्टनष्टा इव क्षणम् ॥ १६ ॥
इत्यध्रुवं जगत्सर्वं नित्यश्चात्मा सनातनः ।
अतः सद्भिर्न कर्त्तव्यं ममत्वं वपुरादिषु ॥ १७ ॥

॥ अनित्यानुप्रेक्षा ॥

भ्रमतोऽस्य भवावर्त्ते जंतोर्गतिचतुष्टये ।
यमारातिगृहीतस्य न कोऽपि शरणं भवेत् ॥ १८ ॥
यथा व्याघ्रगृहीतस्य मृगशावस्य कानने ।
पुण्योदयादृते कश्चिद्रक्षितुं न क्षमोऽङ्गिनः ॥ १९ ॥

---

१ विद्युत् ।

अणिमादिगुणेशनां तेषामपि दिवौकसाम् ।
दिवः प्रच्युतिरेवासीत्का कथान्यशरीरिणाम् ॥ २० ॥
मणिमंत्रौषधादीनि तावत्सर्वाणि संत्यहो ।
यावद्वक्त्रकरालोऽसौ यमो नायाति सन्मुखम् ॥ २१ ॥
कृतान्तेन गृहीतोऽसौ कुपितेन यदा तदा ।
इंद्रचक्रखगेशाद्यैः क्षणं त्रातुं न शक्यते ॥ २२ ॥
मत्वेत्यशरणं विश्वं शरण्यं जैनशासनम् ।
उपादेयतया सद्भिर्गृहीतव्यं प्रयत्नतः ॥ २३ ॥
अर्हंतः शरणं सिद्धाः साधवः शरणं त्रिधा ।
शरणं तत्प्रणीतश्च धर्मः सर्वत्र धीमताम् ॥ २४ ॥
मत्वेति धीधनैरेको धर्मः कार्यः स च द्विधा ।
व्यवहारात् क्रियारूपो निश्चयादात्मदर्शनम् ॥ २५ ॥

॥ अशरणानुप्रेक्षा ॥

द्रव्यं क्षेत्रं तथा कालो भवो भावस्तथैव च ।
एतत्सोपपदाम्नायात् संसारः पंचधा स्मृतः ॥ २६ ॥
तावत्स द्रव्यसंसारो लक्ष्यो सूक्ष्मार्थदर्शिभिः ।
कर्मनोकर्मरूपेण पुद्गलादानलक्षणः ॥ २७ ॥
गृहीताश्चागृहीताश्च मिश्राश्चापि निसर्गतः ।
विद्यंते पुद्गलास्त्रेधा लोकेऽस्मिन्निचिताः स्फुटम् ॥ २८ ॥
तद्विविक्षतजीवेन ते त्रेधापीह पुद्गलाः ।
कर्मनोकर्मभावेन नीत्वा वाराननंतशः ॥ २९ ॥
भुक्तोज्झिताः पुनश्चापि पुनर्नीत्वा पुनस्तथा ।
एवं समुदितः सर्वो द्रव्यसंसार उच्यते ॥ ३० ॥

सोऽप्यनेनैव जीवेन कृतपूर्वो ह्यनंतशः ।
क्षेत्रमाकाशदेशः स्यात्तच्चाणुप्रमितोऽङ्गिनः ॥ ३१ ॥
हानिवृद्धिक्रमाद्व्याप्तो जन्मना मृत्युनाथवा ।
कनकाद्रिमहास्कंधाः संत्यष्टौ मध्यदेशकाः[1] ॥ ३२ ॥
विख्याता गोस्तनाकारैर्नूनं लोकस्य मध्यगाः ।
अथ कुर्वंस्तदारंभं कश्चिज्जीवो विवक्षितः ॥ ३३ ॥
तावत्तानष्टदेशांश्च नीत्वोत्पन्नो निजोदरे ।
भुक्तायुः सोचिते काले मृत्वोत्पन्नो स कुत्रचित् ॥ ३४ ॥
एकदेशमतिक्रम्य तत्रैवोत्पद्यते पुनः ।
एवं क्रमात्परित्यज्य तमेकैकं प्रदेशकम् ॥ ३५ ॥
क्वचित्संमूर्छते जीवे मृत्वा मृत्वा पुनः पुनः ।
यावतः सर्वलोकस्य सर्वदेशाः प्रपूरिताः ॥ ३६ ॥
भवंत्येकेन जीवेन जन्मना मृत्युना तथा ।
तदा समुदितः सोऽयं क्षेत्रसंसारलक्षणः ॥ ३७ ॥
सोप्यवश्यं कृतोऽनेन पूर्णो वाराननंतशः ।
निरंशः समयः कालः सोऽपि संलक्ष्यते जिनैः ॥ ३८ ॥
अणोः पर्यटतो मंदगत्या शुद्धस्य मानतः ।
अथोत्सर्पावसर्पाभ्यां देहादीनां स्वभावतः ॥ ३९ ॥
लब्धान्वर्थाभिधानौ द्वौ कालभेदौ यथाक्रमम् ॥ ४० ॥

---

१ तत्र सर्वकालं जीवाष्टमध्यमप्रदेशा निरपवादाः सर्वजीवानां स्थिता एव। केवलीनामपि अयोगिनां सिद्धानां च सर्वे प्रदेशा स्थिता एव । व्यायामदुःखपरितापोद्रेकपरिणतानां जीवानां यथोक्ताष्टमध्यप्रदेशवर्जितानां इतरे प्रदेशा अवस्थिता एव । शेषाणां प्राणिनां स्थिताश्चास्थिताश्चेति । तत्त्वार्थराजवार्त्तिके पृ. २०३ ।

तद्यथोत्सर्पिणीकालो यावदष्टप्रमाणकः ।
सोऽप्यवसर्पिणीकालस्तावानेव जिनागमे ॥ ४१ ॥
कोटीकोट्यो दशाब्दानां वार्द्धीणां स्वस्य संख्यया ।
प्रमाणं तत्र प्रत्येकं दर्शितं विश्वदर्शिना ॥ ४२ ॥
तस्यामारभ्य मानायामाद्यैकस्मिन्निरंशके ।
लब्धजन्मा यदा कश्चित् भवेत्प्रारंभकस्तदा ॥ ४३ ॥
भुक्त्वा स्वायुर्यथाकालं मृत्वोत्पन्नश्च कुत्रचित् ।
तस्यां द्वितीयेऽस्मिंश्चेदुत्पन्नो भवेत्तदा ॥ ४४ ॥
अतिक्रांतो निरंशः स समयश्चैकमात्रकः ।
विज्ञेयोऽयं क्रमः सद्भिर्नान्यादृशः क्रमः क्वचित् ४५ ॥
यावंतः समयास्तस्या भज्यमाना निरंशकाः ।
नीताः सर्वेऽपि जीवेन जन्मना मृत्युना च ते ॥ ४६ ॥
तदायं मेलितः सर्वः कालसंसृतिरिष्यते ।
साप्यनुभूतपूर्वस्य जीवस्यानंतशः स्फुटं ॥ ४७ ॥
भवो जीवस्य पर्यायः सोऽप्यशुद्धश्च कर्मसात् ।
नारकश्चापि तिर्यग्वा देवश्चेति चतुर्विधः ॥ ४८ ॥
वत्सराणां त्रयस्त्रिंशदब्दयो दिवि नारके ।
उत्कर्षेणापकर्षेण सहस्राणि दश स्थितिः ॥ ४९ ॥
तत्र बद्धा नरः कश्चिच्छ्वभ्रीं स्थितिमनुत्तमां ।
भुक्तोज्झितो मृतश्चाथ बंभ्रम्येत यतस्ततः ॥ ५० ॥
यदा तु दैवयोगात्स स्थितिं बध्नाति तादृशीं ।
प्रारंभकस्तदा ज्ञेयो नान्यथा भवसंसृतेः ॥ ५१ ॥

जघन्यस्थितिवर्षाणां यावंतः समयाः स्मृताः ।
तावंतो वारानसकौ (कृत्) मृतो जातः पुनः पुनः ॥ ५२ ॥
ततः साधिकमेकेन ततोऽप्येकेन साधिकम् ।
समयेन यदायुः स्याद्वर्द्धमानं शरीरिणाम् ॥ ५३ ॥
तदाप्येष क्रमो ज्ञेयो नान्यथा तदतिक्रमात् ।
क्रमाद्धीनोऽधिकश्चापि नोल्लेख्यः कदाचन ॥ ५४ ॥
वर्द्धमानं क्रमादायुः सर्वोत्कर्षं यदा भवेत् ।
पर्य्याप्तो भवसंसारो देवनारकयोस्तदा ॥ ५५ ॥
एवं तिर्यग्मनुष्याणां स्थितिरांतर्मुहूर्तिकी ।
अपकर्षात्तूपकर्षेण त्रिपल्योपमसंमिता ॥ ५६ ॥
अथारभ्य जघन्याद्वा पूर्ववत्समयाधिकम् ।
पुनर्बध्वा क्रमादायुर्यावतोत्कर्षतां व्रजेत् ॥ ५७ ॥
तावानेकीकृतः सर्वः स युक्तः समवायवान् ।
उच्यते भवसंसारस्तल्लक्षणविदांवरैः ॥ ५८ ॥
सोऽप्यनेनैव जीवेन संगृहीतो ह्यनंतशः ।
कृते नित्यनिगोदाद्वा सर्वेणाप्यटता भृशम् ॥ ५९ ॥
भावो जीवस्य पर्यायः परिणामगुणात्मकः ।
स चाशुद्धश्च शुद्धश्च द्विधा स्यान्नयभागतः ॥ ६० ॥
परद्रव्यात्मकं कर्म ज्ञानाद्यावरणं स्वतः ।
तद्विपाकनिमित्तत्वे जातो शुद्धः स जन्मिनः ॥ ६१ ॥
कृत्स्नकर्मक्षये यस्तु भावो जीवस्य निष्क्रियः ।
स शुद्ध इति विज्ञेयो यथा सौख्यमतीन्द्रियम् ॥ ६२ ॥

तत्रोपाश्रययुक्तित्वादशुद्धे परिवर्त्तनम् ।
शुद्धे भावे स्वरूपत्वात्तन्नास्ति खरशृंगवत् ॥ ६३ ॥
स्थितेरध्यवसायानां स्थानानीह सुसंख्यया ।
पतितानि चतुःस्थानैर्लोकासंख्यातमात्रतः ॥ ६४ ॥
एवमध्यवसायानामनुभागोचितलक्षणाम् ।
पतितानि च षट्स्थानैर्लोकासंख्यातमात्रशः ॥ ६५ ॥
लोकासंख्यातमात्राणि योगस्थानानि संख्यया ।
पतितानि चतुःस्थानैर्वृद्धिहानिक्रमादिति ॥ ६६ ॥
अतश्चैषामनंताः स्युर्भेदास्ते च निरंशकाः ।
उत्कृष्टोऽनुत्कृष्टश्च जघन्योऽप्यजघन्यकः ॥ ६७ ॥
सर्वा जघन्यादारभ्य यावदुत्कृष्टतां नयेत् ।
जीवः सर्वानिमान्भावान्भावसंसार इत्ययं ॥ ६८ ॥

उक्तं च—

"पढमक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि विदियक्खो ।
दोण्ण वि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो ॥ १ ॥"
कृते नित्यनिगोदाद्वा भवसंसारवद्यतः ।
एषोऽपि भावसंसारः प्राप्तो मंदैरनंतशः ॥ ६९ ॥
पंचप्रकारसंसारं मत्वा मोक्षसुखार्थिनः ।
निःसंसारं निजात्मानं त्रिधाप्याराधयंतु भोः ॥ ७० ॥

॥ इति संसारानुप्रेक्षा ॥

---

१ प्रथमाक्ष अन्तगत आदिगते संक्रामति द्वितीयाक्षः ।
द्वावपि गत्वान्तमादिगते संक्रामति तृतीयाक्षः ॥
गोम्मटसारजीवकांडे गाथा ॥ ४० ॥

एको द्रव्यस्वभावत्वादनादिनिधनः स्वतः ।
पर्यायार्थादनेकत्वेऽप्यस्य चिद्रूपमात्रतः ॥ ७१ ॥
एकाकी भ्रमते दीनो मोहकर्मावृतः शठः ।
ऊर्द्ध्वाधस्तिर्यगालोकादशेषूच्चैरितोऽमुतः ॥ ७२ ॥
कदाचिन्नारकं दुःखमेकाकी सहते जडः ।
न कोऽपि तत्र साहाय्यं कुर्याद्यावदिति क्षणम् ॥ ७३ ॥
एकोऽयं स्वर्गसौख्यानि भुंक्ते पुण्योदयादिह ।
तिर्यक्त्वेऽपि नरत्वेऽपि सहायपरिवर्जितः ॥ ७४ ॥
उत्पद्यतेऽथ पंचत्वं याति जीवो रुदन्निव ।
तदापि पुत्रपौत्रादि मित्रबांधवसज्जनाः ॥ ७५ ॥
ये कलत्रादयस्तेन नापि सार्द्धं पदं दधुः ।
त्रसस्थावरकायेषु दुःखयोनिसतात्मसु ॥ ७६ ॥
एकाकी भ्रमते प्राणी नानाक्लेशौघपीडितः ।
न सध्र्यङ्कोऽपि[1] तत्राहो क्षणं यावदिति स्फुटम् ॥ ७७ ॥
एकस्तपोऽसिना हत्वा कर्मारातीः स्वपौरुषात् ।
केवलज्ञानसाम्राज्यं निर्भयं पदमश्नुते ॥ ७८ ॥
इत्येकत्वं परिज्ञाय जंतोः संसारमोक्षयोः ।
सावधानतयादेयो मोक्षोऽनंतसुखात्मकः ॥ ७९ ॥

॥ इति एकत्वानुप्रेक्षा ॥

वपुषोऽपि विभिन्नश्चेज्जीवः संलक्ष्यते क्षये ।
लक्षणादप्यतः स्युस्ते कथं स्वीयाः सुतादयः ॥ ८० ॥

---

१ सहचारी ।

जीवात्पंचेन्द्रियाणीह भिन्नलक्ष्माणि निश्चयात् ।
मनःकायवचांसीव कर्मजत्वां (न्या) विशेषतः ॥ ८१ ॥
ये च रागादयो भावा मोहकर्मोदयात्मकाः ।
चिदाभासाश्च ते सर्वे भिन्नाश्चैतन्यरूपतः ॥ ८२ ॥
जीवस्थानगुणस्थानबंधस्थानान्यपि क्रमात् ।
योगस्थानानि भिन्नानि स्वात्मनः सर्वथाप्यतः ॥ ८३ ॥
बंधाद्यध्यवसायानां स्थानानीह बहूनि च ।
भिन्नलक्षणलक्ष्यत्वादन्यानीव चिदात्मनः ॥ ८४ ॥
धर्माधर्मनभःकालज्ञेयद्रव्याण्यनंतशः ।
बिंबितान्यपि तज्ज्ञप्त्यै भिन्नान्यात्मचतुष्टयात् ॥ ८५ ॥
मूर्त्तद्रव्याणवस्तेऽपि तुल्यदेशाः स्थिताः स्वतः ।
एकक्षेत्रावगाहित्वे ज्ञानादन्ये स्वभावतः ॥ ८६ ॥
वर्गश्चापि यथा लक्ष्यस्त्रयोविंशतिवर्गणाः ।
अनात्मीयाश्च ते सर्वे स्पर्द्धका गुणहानयः ॥ ८७ ॥
ज्ञानाद्यावृत्तिरूपाणि कर्माण्यष्टाप्यसंख्यया ।
नोकर्माण्यपि भिन्नानि चिद्रूपैकस्वरूपतः ॥ ८८ ॥
क्षायोपशमिका भावा मतिज्ञानादयः क्रमात् ।
ते सर्वेऽप्यस्य जीवस्य न संतीति विनिश्चयात् ॥ ८९ ॥
अलं वा बहुभिर्जल्पैरालकोलाहलाकुलैः ।
मुक्त्वा चिन्मात्रमात्मानमनादेयमतः परम् ॥ ९० ॥
सर्वमन्यं परिज्ञाय योऽनन्यशरणं व्रजेत् ।
अचिराल्लभते मोक्षमभिप्रेतमिदं मम ॥ ९१ ॥

॥ इति अन्यत्वानुप्रेक्षा ॥

अशुचिः सर्वदेहोऽयं शुक्रशोणितयोनिजः ।
असृग्मांसवसाकीर्णः का कथा बाह्यवस्तुषु ॥ ९१ ॥
वर्चोमूत्रसमाकीर्णं चर्मबद्धास्थिसंचयम् ।
भ्रातर्वपुर्विजानीहि बीभत्सुक्षयितापकं ॥ ९३ ॥
यत्किंचित्सुंदरं वस्तु पूतं वा यन्निसर्गतः ।
वपुः संसर्गतो नूनं क्षणादशुचितां व्रजेत् ॥ ९४ ॥
जले जंबालवन्नूनं कालुष्येनोपलक्षिताः ।
सर्वे रागादयो भावा हेयाश्चाशुचिमंदिराः ॥ ९५ ॥
रागसद्भावतो नूनं त्रिदशेऽपि दिवौकसाम् ।
शुचिः कुतस्तनी तेषां दृङ्मलैर्दूषितात्मनाम् ॥ ९६ ॥
अतश्चैकः स शुद्धात्मा चिद्रूपो रूपवर्जितः ।
त्रिकालेऽपि शुचिः साक्षात् स्वतोऽनंतगुणात्मकः ॥ ९७ ॥
यदि वा दर्शनज्ञानचारित्राणि शुचीन्यहो ।
सम्यक्पदोपलक्ष्याणि तन्मलापगमादितः ॥ ९८ ॥
अशुचित्वं परित्यज्य शुचिर्ग्राह्या मनीषिभिः ।
चैतन्यलक्षणः सोऽयमयमर्थो निरूपणे ॥ ९९ ॥

॥ इत्यशुचित्वानुप्रेक्षा ॥

आश्रवः स द्विधा प्रोक्तो भावद्रव्यविभेदतः ।
तत्र रागादयो भावाः कर्मागमनहेतवः ॥ १०० ॥
तस्माद्भावाश्रवो ज्ञेयो रागभावः शरीरिणाम् ।
तद्धेतोः कर्मरूपेण भावो द्रव्याश्रवः स्मृतः ॥ १०१ ॥

---

१ शैवालं ।

मिथ्यात्वं च कषायाश्च योगा विरतयस्तथा ।
संति भावाश्रवस्येह भेदाः श्रीजिनदेशिताः ॥ १०२ ॥
एभिर्द्वारैस्तु जीवानामाश्रवंतीह पुद्गलाः ।
यथा सच्छिद्रपोतस्य वारिमध्ये स्थितस्य च ॥ १०३ ॥
तत्त्वार्थानामश्रद्धानं श्रद्धानं वा तदन्यथा ।
मिथ्यात्वं प्रोच्यते प्राज्ञैस्तच्च भेदादनेकधा ॥ १०४ ॥
सामान्यादेकमेवैतन्मिथ्यात्वं जातिरूपतः ।
विशेषात्पंचधा यद्वा लोकासंख्यातमात्रतः ॥ १०५ ॥
एकमेकांतमिथ्यात्वं द्वितीयं विपरीतकं ।
तृतीयं विनयस्तुर्ये संशयोऽज्ञस्तु पंचमम् ॥ १०६ ॥
उक्तं च—
"[1]एयंतबुद्धदरसी विवरीओ बंभ तावसो विणओ ।
इंदो वि य संसयिदो मक्कडिओ चेव अण्णाणी ॥ १ ॥"
एतेषां लक्षणं प्राज्ञैर्विज्ञेयं परमागमात् ।
यद्वासंख्यातलोकाः स्युः सूक्ष्म्यास्ते बुद्ध्यगोचराः ॥ १०७ ॥
कषंत्यात्मानमेवात्र कषायादिति दर्शिताः ।
पंचविंशतिसंख्याका मोहकर्मोदयोद्भवाः ॥ १०८ ॥
क्रोधो मानश्च माया च लोभश्चेति चतुर्विधः ।
प्रत्येकं ते ह्यनंता स्यु(स्वा)नुबंधिन उदाहृताः ॥ १०९ ॥
द्वितीयं तच्चतुष्कं स्यादप्रत्याख्यानसंज्ञकम् ।
प्रत्याख्यानं तृतीयं स्यात्तुर्यं संज्वलनाख्यया ॥ ११० ॥

१ एकान्तो बुद्धदर्शी विपरीतो ब्रह्म तापसो विनयः ।
इन्द्रोऽपि च संशयितो मस्करी चैवाज्ञानी ॥ गोम्मटसारे जीवकांडे गा. १६ ।

एवं संमिलिता भंगैः कषाया षोडश स्मृताः।
नोकषायास्तथा ज्ञेया संख्यया नव तद्यथा ॥ १११ ॥
हास्यो रत्यरती चैव शोको भीतिस्तथैव च।
जुगुप्सास्त्रीनरक्लीबवेदाश्चोद्देशिताः क्रमात् ॥ ११२ ॥
एवमेकीकृताः सर्वे पंचविंशतिसंख्यकाः।
कर्माश्रवस्य कर्तृत्वान्महानर्थविधायिनः ॥ ११३ ॥
अविरतिस्तु विख्याता सर्वतो द्वादशाख्यया।
अंतर्भूता कषायेषु पृथगप्युपदेशिता ॥ ११४ ॥
इंद्रियाणि च पंचैव मनः षष्ठमुदाहृतम्।
तेषामनिग्रहात्प्रोक्ता षोढा विरतिरित्यपि ॥ ११५ ॥
पंचस्थावरजीवानां षष्ठस्यापि त्रसस्य च।
प्राणापरोपणं हिंसा षोढा सा चेति संमिता ॥ ११६ ॥
धर्मः स्वात्मानुभूत्याख्य प्रमादोनवधानता।
हेतोः कर्माश्रवस्यास्य भेदाः पंचदश स्मृता ॥ ११७ ॥
उक्तं च—
"[1]विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणगो य।
चदु चदु पणमेगेगं होंति पमादा हु पण्णरसा ॥ १ ॥"
योगश्चात्मप्रदेशानां परिस्पंदस्त्रिधा मतः।
मनोवाक्कायरूपाणां वर्गणानां विपाकतः ॥ ११८ ॥
सोऽपि सत्यादिरूपेण भिद्यते नैकधा बुधैः।
औदारिकादिभेदैश्च काययोगोऽप्यनेकधा ॥ ११९ ॥

---

१ विकथास्तथा कषाया इन्द्रियनिद्रास्तथैव प्रणयश्च।
चतुःचतुःपंचैकैकं भवन्ति प्रमादा खलु पंचदश ॥
गोम्मटसारजीवकांडे गा. ३४ ॥

उक्तं च—

"[1]कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावं तु होइ दुविहं तु ।
तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा ॥ १ ॥"

तारतम्यात्मकं लक्ष्य (यं) निकृष्टोत्कृष्टमध्यमं ।
निरवशेषात्त्वेषां हि वेदितव्यं महागमात् ॥ १२० ॥
सर्वं हेयं विजानीयादाश्रवं परमार्थतः ।
एको निराश्रवः स्वात्मा ग्राह्यो शुद्धानुभूतितः ॥ १२१ ॥

॥ इति आश्रवानुप्रेक्षा ॥

आश्रवाणां निरोधो यः संवरः प्रोच्यते बुधैः ।
द्रव्यभावविभेदेन सोऽपि द्वैविध्यमश्नुते ॥ १२२ ॥
येनांशेन कषायाणां निग्रहः स्यात्सुदृष्टिनाम् ।
तेनांशेन प्रयुज्येत संवरो भावसंज्ञकः ॥ १२३ ॥

उक्तं च—

"[2]वेदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपहापरीसहजओ य ।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥ १ ॥"

कर्मणामाश्रयो भावो रागादीनामभावतः ।
तारतम्यतया सोऽपि प्रोच्यते द्रव्यसंवरः ॥ १२४ ॥

---

१ कर्मस्वरूपेण एकं द्रव्यं भावं तु होदि द्विविधं तु ।
तत् पुनः अष्टविधं वा अष्टचत्वारिंशत् असंख्यलोकं वा ॥
गोम्मटसारकर्मकाण्डे ॥

२ व्रतसमितिगुप्तयः धर्मानुप्रेक्षापरीषहजयश्च ।
चारित्रं बहुभेदाः ज्ञातव्याः भावसंवरविशेषाः ॥ द्रव्यसंग्रहे ॥

अयमेकः सदा सेव्यः संवरो मोक्षसाधनम् ।
अथ तत्राविनाभूतः शुद्धः सेव्यश्चिदात्मकः ॥ १२५ ॥

॥ इति संवरानुप्रेक्षा ॥

निर्जरापि द्विधा ज्ञेया भावद्रव्यविभेदतः ।
अपि चैकादशस्थानैः ख्याताः संख्यगुणक्रमाः ॥ १२६ ॥
आत्मनः शुद्धभावेन गलत्येतत्पुराकृतम् ।
वेगाद्भुक्तरसं कर्म सा भवेद्भावनिर्जरा ॥ १२७ ॥
आत्मनः शुद्धभावस्य तपसोऽतिशयादपि ।
यः पातः पूर्वबद्धानां कर्मणां द्रव्यनिर्जरा ॥ १२८ ॥
यथाकालं समागत्य दत्वा कर्मरसं पचेत् ।
निर्जरा सर्वजीवानां स्यात् सविपाकसंज्ञकः ॥ १२९ ॥
इयं मिथ्यादृशामेव यदा स्याद्बंधपूर्विका ।
मुक्तये न तदा ज्ञेया मोहोदयपुरःसरा ॥ १३० ॥
सविपाका विपाका वा सा स्यात्संवरपूर्विका ।
निर्जरा सुदृशामेव नापि मिथ्यादृशां क्वचित् ॥ १३१ ॥
निर्जरालक्षणं ज्ञात्वा मोक्षसिद्धिमभीप्सुभिः ।
सर्वारंभेण शुद्धात्मा सेवितव्यस्तदंगतः ॥ १३२ ॥

॥ इति निर्जरानुप्रेक्षा ॥

अधो वेत्रासनाकारो मध्ये स्याज्झल्लरीनिभः ।
मृदंगसदृशश्चाग्रे लोकस्येति त्रिधा स्थितिः ॥ १३३ ॥
पापास्तु पापपाकेन पच्यंते छेदनादिभिः ।
सप्तश्वभ्रेष्वधोभागे नारका नारकैः सह ॥ १३४ ॥
केचित्पुण्योदयेनेह स्वर्गेषु सुखसंपदः ।
भुंजंतो दिव्यभोगांश्च सागरावधिजीविनः ॥ १३५ ॥

क्वचित्सौख्यं क्वचिद्दुःखं मध्यलोके क्वचिद्द्वयम् ।
प्राप्नुवंति नृतिर्यंचः पुण्यपापवशीकृताः ॥ १३६ ॥
लोकाग्रे शाश्वतं धाम मनुष्यक्षेत्रसंमितम् ।
अनंतसुखसंपन्नाः सिद्धा यत्र वसंत्यहो ॥ १३७ ॥
एतल्लोकत्रयं ज्ञात्वा तन्मूर्द्धस्थं शिवालयं ।
हत्वा मोहं दृगाद्यैश्च साधयंतु महर्षयः ॥ १३८ ॥

॥ इति लोकानुप्रेक्षा ॥

बोधिर्बोधनमित्युक्तमनन्यमनसात्मनः ।
दुर्लभा सा हि जीवानां बोधिदुर्लभ इष्यते ॥ १३९ ॥
अनंतानंतजीवानां सज्ञानादिवनस्पतौ ।
निःसरंति ततः केचिद्गतेऽनंतेऽप्यनेहसि ॥ १४० ॥
ततः कथंकथंचिद्वै पृथ्वीकायिकादिषु ॥ १४१ ॥
उत्पद्यंते तथा दैवात् दुर्गतौ लब्धसंनिधिः ।
ततः कृच्छ्रतमात्ते हि लाघवाद्दुष्टकर्मणाम् ॥ १४२ ॥
द्वीन्द्रियादिषु जायंते तिरश्चामिव दुर्गतौ ।
पर्याप्तत्वं ततः कृच्छ्रात्प्राप्यते प्राणिभिः क्वचित् ॥ १४३ ॥
प्रायोऽपर्याप्तका जीवा संत्यत्र बहवो यतः ।
तेषामुल्लासमात्रेण जन्मानि मरणानि च ॥ १४४ ॥
संख्यायाष्टादशावश्यं जायंते दुःखजान्यहो ।
अतस्ततोऽपि निःसृत्य कृच्छ्रात्पंचेन्द्रियोऽभवत् ॥ १४५ ॥
ततः कथंकथंचिद्वै संज्ञी भवति मानवः ।
तत्राप्यार्यखंडेऽस्मिन्नुत्पत्तिर्दुर्लभा नृणाम् ॥ १४६ ॥
तत्राप्युच्चैःकुले जन्म दुर्लभं जैनधर्मणि ।
प्राप्तेऽप्यायुः सुसंपूर्णं वपुरारोग्यमेव च ॥ १४७ ॥

तथोत्तरं सुदुष्प्राप्यं प्राप्यते दैवयोगतः ।
तत्रापि विषयांधानां धर्मबुद्धिस्तु दुर्लभा ॥ १४८ ॥
प्राप्तायां धर्मबुद्धौ च दुर्लभं धर्मपाटवं ।
प्राप्ते तस्मिन्नपि प्रायो दुर्लभा गुरुदेशना ॥ १४९ ॥
प्राप्तौ तस्यां कषायाणां निग्रहश्चातिदुर्लभः ।
सति यस्मिन् भवत्येव संयमः कर्मनाशकृत् ॥ १५० ॥
लब्धे तस्मिन्नपि प्राज्ञ (प्रज्ञा ?) काललब्धिवशीकृतः ।
शुद्धचैतन्यरूपस्य बोधिलाभस्तु दुर्लभः ॥ १५१ ॥
उक्तं च—
" खओवसमविसोही देसणपाओगकरणलद्धी य ।
चत्तार वि सामण्णा करणं सम्मत्तजुत्तस्स ॥ १ ॥ "
इदमत्र हि तात्पर्यं विज्ञेयं परमार्थिभिः ।
दुर्लभे बोधलाभेऽस्मिन् प्रमादो दस्युरेव हि ॥ १५२ ॥

॥ इति बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा ॥

धर्मशब्दस्त्वनेकार्थेऽप्येकार्थं प्रत्ययत्यहो ।
यस्मादुच्चैःपदे धत्ते जीवं नीचैःपदादपि ॥ १५३ ॥
धर्मो वस्तुस्वभावः स्यात्कर्मनिर्मूलनक्षमः ।
तच्चैव शुद्धचारित्रं साम्यभावचिदात्मनः ॥ १५४ ॥
व्यवहारेण तत्प्रोक्तो धर्मः संयमसंज्ञकः ।
सर्वप्राणिदयामूलस्तपः शीलसमन्वितः ॥ १५५ ॥

---

१ क्षायोपशमिकविशुद्धी देशनाप्रायोग्यकरणलब्धयश्च ।
चतस्रोऽपि सामान्याः करणं सम्यक्त्वयुक्तस्य ।
गोम्मटसारजीवकांडे ६५० ॥

द्विधा सोऽप्याश्रमाद्भेदात् गृहस्थशमिनोर्द्वयोः ।
त्रिधा सद्दर्शनज्ञानचारित्रोद्देशभेदतः ॥ १५६ ॥
दशधापि ततो धर्मस्तथालक्षणसंभवात् ।
उत्तमादौ क्षमा ज्ञेया मार्दवार्जवसत्यवाक् ॥ १५७ ॥
शौचं संयम एवानुतपस्त्यागस्तथोत्तमम् ।
आकिंचन्यमथो ज्ञेयं ब्रह्मचर्यं सुदुष्करं ॥ १५८ ॥
धर्मोऽमुत्रेह पाथेयं सध्व्यङ् (सध्र्यङ्) नित्योपकारकं ।
पिता माता च बंधुश्च देवश्चाप्यंगिनामिह ॥ १५९ ॥
मत्वेति धीधनैः कार्या धर्मबुद्धिः सनातनी ।
न हि कालकलैः क्वापि नेतव्या स्वतृषोज्झिता ॥ १६० ॥
सर्वत्रापि दिशः शून्या विना धर्मेण प्राणिनाम् ।
मत्वैतत्स्वहितं कार्यं वावदूकतयाप्यलम् ॥ १६१ ॥

॥ इति धर्मानुप्रेक्षा ॥

॥ इति द्वादशानुप्रेक्षाः ॥

एवं चिंतयतस्तस्य हृदि द्वादशभावनाः ।
अजातमिव तत्रासीद्धोरं चाप्युपसर्गकम् ॥ १६२ ॥
देहाद्भिन्नं चिदात्मानं स्वानुभूत्यैकमात्रतः ।
विद्युच्चरः समालंब्य जयति स्म परीषहान् ॥ १६३ ॥
व्यतीते चोपसर्गेऽथ मुनिर्विद्युच्चरो महान् ।
व्यभ्रे व्योम्नि यथादित्यो तेजःपुंज इवा(व)द्युतः ॥ १६४ ॥
प्रातःकालेऽथ संजाते प्रांत्यसल्लेखनाविधौ ।
चतुर्विधाराधनां कृत्वागमत्सर्वार्थसिद्धिके ॥ १६५ ॥

त्रयस्त्रिंशत्समुद्रायुर्भुक्ते सौख्यं निरंतरम् ।
दुर्लभं चाल्पपुण्यानां सर्वं वाचामगोचरम् ॥ १६६ ॥
स्वायुरंते ततश्च्युत्वा संप्राप्य चरमं वपुः ।
केवलज्ञानमुत्पाद्य गंतातः परमां गतिं ॥ १६७ ॥
नमस्तस्मै नमस्तस्मै नमोऽनंतसुखात्मने ।
नमश्चानंतवीर्याय केवलज्ञानभानवे ॥ १६८ ॥
शतानां पंचसंख्याकाः प्रभवादिमुनीश्वराः ।
अंते सल्लेखनां कृत्वा दिवं जग्मुर्यथायथं ॥ १६९ ॥
जंबूस्वामिजिनेशस्य चरित्रमिदमुत्तमं ।
जैनागमानुसारेण प्रोक्तमल्पधिया मया ॥ १७० ॥
यदत्र स्खलितं किंचित्प्रमादात्शारदे मम ।
स्वरव्यंजनसंध्यादि तत्क्षंतव्यं जगन्नुते ॥ १७१ ॥
अपारे चातिगंभीरे महाशब्देऽतिदुस्तरे ।
को न मुह्यति शास्त्राब्धौ विद्वानपि महीतले ॥ १७२ ॥
जंबूस्वामिवदुत्तमं प्रकुरुते भूमौ तपो यो जनः ।
पंचाक्षारिविशालकामगहनश्रेणीषु दावोपमं ॥
स स्यात्सौख्यनिकेतनं खलु बुधा ज्ञात्वेति चित्तेऽनिशं ।
कुर्वीध्वं करुणापराः शिवसुखे वांछास्ति रम्या यदि ॥ १७३ ॥
ये शृण्वंति चरित्रमुत्तममिदं श्रीजंबुनाम्नो मुनेः ।
नानाचित्रकथाविभूषितमतिप्रावीण्यसंबोधनं ॥
तेषां स्याद्बहुपुण्यकर्मनिपुणा बुद्धिः स्वयंभूरिव ।
त्यक्त्वाशेषभवप्रसूतसुखसार्थस्याशु धर्मास्पदम् ॥ १७४ ॥

पठनीयं पाठनीयं शास्त्रमेतन्मुनीश्वरैः ।
जंबूस्वामिचरित्राद्यं रोमांचजननक्षमम् ॥ १७५ ॥
क्षंतव्यं शारदे देवि यदत्र गदिते मया ।
न्यूनाधिकं भवेत्किंचित्प्रमादाद्भ्रांतितोऽथवा ॥ १७६ ॥
जंबूस्वामी जिनाधीशो भूयान्मंगलसिद्धये ।
भवतां भुवि भो भव्याः श्रीवीरांतिमकेवली ॥ १७७ ॥

इति श्रीजम्बूस्वामिचरिते भगवच्छ्रीपश्चिमतीर्थकरोपदेशानुसरित-
स्याद्वादानवद्यगद्यपद्यविद्याविशारदपण्डितराजमल्लविरचिते
साधुपासात्मजसाधुटोडरसमभ्यर्थिते मुनिश्रीविद्युच्चर-
सर्वार्थसिद्धिगमनवर्णनो नाम त्रयोदशः पर्वः ॥

इति जम्बूस्वामिचरितम् समाप्तम् ॥

अथ प्रशस्तिः

शब्दार्थैरर्थवच्छास्त्रं यथेदं याति पूर्णताम् ॥
तथा कल्याणमालाभिर्वर्द्धतां साधुटोडरः ।

अथ संवत्सरेऽस्मिन् श्रीनृपविक्रमादित्यगताब्दसंवत् १६३२ वर्षे चैत्र सुदि ८ वासरे पुनर्वसुनक्षत्रे श्रीअर्गलपुरदुर्गे श्रीपातिसाहिजलादीनअकबरसाहिप्रवर्त्तमाने श्रीमत्काष्ठासंघे माथुरगच्छे पुष्करगणे लोहाचार्यान्वये भट्टारकश्रीमलयकीर्तिदेवाः। तत्पट्टे भट्टारकश्रीगुणभद्रसूरिदेवाः। तत्पट्टे भट्टारकश्रीभानुकीर्त्तिदेवाः। तत्पट्टे भट्टारकश्रीकुमारसेननामधेयास्तदाम्नायेऽग्रोतकान्वये गर्गगोत्रे भटानियाकोलवास्तव्यश्रावकसाधुश्री (न)न्दनः तद्भ्राता साधुश्रीआसू तद्भार्या सरो तयोः पुत्रत्रयः। ज्येष्ठपुत्रः साहुरूपचंदः तस्य भार्या जिनमती। तस्य पुत्रत्रय। प्रथमपुत्रः साधुजसरथः। तस्य भार्या गावो तस्य पुत्रत्रयः। प्रथमः साहलोरचंद्रः भार्या प्यारी। तस्य पुत्रः साहगरीबदासः भार्या हमीरदे तस्य पुत्राः पञ्च। प्रथमः साहहेमराजः भार्या गरीबदासपुत्रौ द्वौ। दुरगनः तृतीयपुत्रः हरिवंश साहजसरथपुत्रद्वितीयसाधुश्रीछल्लू तस्य भार्या भवानी तस्य पुत्रः साधुचोजसालः भार्या बूवो जसरथतृतीयपुत्रः साधुचौहथः तस्य भार्या भागमती तस्य पुत्रद्वयम्। प्रथमः पुत्रः साधुभोवालः भार्या पारो पुत्रः लालचंदः साधुचौहथः। द्वितीयपुत्रः जारपदासः भार्या साधुरूपचंदद्वितीयपुत्रः

साधुरायमलः भार्या थिरो तस्य पुत्र साहनथमलः भार्या चांदनदे साधु-रूपचंदतृतीयपुत्रः साधुश्रीपासा भार्या घोषा तस्य पुत्रः साधुटोडरः तस्य भार्या कसूंभी तस्य पुत्रत्रयः। पुत्रः साधुश्रीऋषभदासः तस्य भार्या लालमती। साधुटोडरद्वितीयपुत्रः मोहनदासः तद्भार्या मधुरी। साधुटोडर-तृतीयपुत्रः चिरंजीवी रूपमांगद एतेषां मध्ये परमसुश्रावकसाधुश्री-टोडरेन जंबूस्वामिचरित्रं कारापितं। लिखापितं च कर्मक्षयनिमित्तम् ॥

लिखितं गंगादासेन।

॥ इति ॥

अध्यात्मकमलमार्तण्डः

प्रथमः परिच्छेदः

प्रणम्य[1] भावं[2] विशदं[3] चिदात्मकं[4], समस्ततत्त्वार्थविदं[5] स्वभावतः[6]।
प्रमाणसिद्धं[7] नययुक्तिसंयुतं[8], विमुक्तदोषावरणं[9] समंततः[10] ॥ १ ॥

१ नत्वा। २ परमात्मानम्। अत्र भावशब्दः आत्मवाचको ग्राह्यः। "भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु" इत्यमरः। ३ निर्मलम्। अष्टादशदोषरहितम्। ४ चिच्चेतना एव आत्मा स्वरूपं यस्य तं चिदात्मकं। चेतनस्वरूपमित्यर्थः। ५ तस्य भावस्तत्त्वं। योऽर्थो यथा व्यवस्थितस्तस्यार्थस्य तथा भावो भवनं तत्त्वमुच्यते। अर्यते गम्यते ज्ञायते निश्चीयते इत्यर्थः, तत्त्वेनार्थस्तत्त्वार्थः। तत्त्वमेव वार्थस्तत्त्वार्थः। तत्त्वार्थं परमार्थभूतपदार्थं। अत्र तत्त्वार्थेन जीवादिपदार्था ज्ञेयाः। नत्वर्थशब्देन प्रयोजनाभिधेयधनादिकं ग्राह्यं तदर्थस्य मोक्षप्राप्तेरयुक्तत्वात्। अर्थशब्दस्यानेकार्थत्वं। तदुक्तम्—हेतौ प्रयोजने वाच्ये निवृत्तौ विषये तथा। प्रकारे वस्तुनि द्रव्ये अर्थशब्दः प्रवर्तते। १। समस्ताश्च ते तत्त्वार्थाः पदार्थास्तान् वेत्ति जानातीति समस्ततत्त्वार्थवित् तम्। ६ स्वाभिप्रायात्स्वकीयचेष्टातो वा। ७ प्रमाणैः प्रत्यक्षपरोक्षादिभिः सिद्धं परमात्मस्वरूपम्। ८ साध्यविशेषस्य नित्यत्वानित्यत्वादेर्याथात्म्यप्रापणनिपुणप्रयोगो यथावस्थितस्वरूपेण प्रदर्शनसमर्थनव्यापारो नय उच्यते; ज्ञायकजीवस्याभिप्राय इत्यर्थः। नयंति प्रापयंति प्रमाणैकदेशानिति नयास्तेषां युक्तिर्योजनं विचित्रनयानां संयोजनम् अथवा नयानां नैगमादीनां युक्तयस्तत्र सर्वत्र संयुतं युक्तम्। ९ संसारिजीवस्य दोषानामावरणमाच्छादनं वर्ततेऽतो जीवस्य साक्षात्कारस्वशक्तिरूपश्चमत्कारो न दृश्यते परमात्मनस्तत्र। अथवा दोषा रात्रिरंधकारभूता लक्षणया अंधकारस्तत्, आवरणं ज्ञानावरणदर्शनावरणद्वयं। विमुक्तं त्रुटितं दोषावरणं यस्य तम्। अर्थात् केवलज्ञानदर्शनराजितम्। १० समंततश्चतुर्गतिभ्रमणविवर्त्तनरहितत्वाद्विमुक्तदोषावरणमिति। अथवा समंततो मनोवाक्काययोगैर्भावं प्रणम्येति बोद्धव्यम्।

अनन्तधर्मं[1] समयं[2] ह्यतीन्द्रियं[3], कुवादिवादा[4]प्रहतस्वलक्षणम् ।
ब्रुवे[5]ऽ*पवर्ग[6]प्रणिधेतुमद्भुतं[7], पदार्थतत्त्वं भवताप[8]शान्तये ॥२॥ युग्मम्

नमोऽस्तु तुभ्यं जगदम्ब[9] भारति, प्रसाद[10]पात्रं कुरु मां हि किंकरम्[11] ।
तव प्रसादादिह[11] तत्त्वनिर्णयं[12], यथास्वबोधं[13] विदधे[14] स्वसंविदे[15] ॥३॥

मोहः संतानवर्ती[16] भववनजलदो द्रव्यकर्मौघहेतु-
स्तत्त्वज्ञानघ्नमूर्ति[17]र्वमनमिव खलु *श्रद्दधीते न तत्त्वे ।
मोहक्षोभप्रमुक्ता[18] दृगवगमयुता[19]त्स×च्चारित्राच्च्युतिश्च ।
गच्छत्वध्यात्मकंजद्युमणिपरपरिख्यापनान्मे चितो[20]ऽस्तम्[21] ॥ ४ ॥

---

१ अनन्तस्वभावम् । " धर्माः पुण्ययमन्यायस्वभावाचारसोमपाः " इत्यमरः । २ समयं संविच्चेतनास्वरूपम् " समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः " इत्यमरः । अथवा समं युगपद्याति गच्छति प्राप्नोति त्रैलोक्ये ज्ञानदर्शनद्विकेन सः समयस्तं समयम् । " दंसणपुव्वं णाणं छदमत्थाणं ण दोण्णि उवओगा । जुगवं जम्हा केवलिणाहे जुगवं तु ते दोवि " । इतिवचनात् । ३ अतीन्द्रियं सिद्धस्वरूपत्वादिन्द्रियबाह्यम् । ४ कुवादिनां नास्तिकानां वादोऽनात्मत्वं तेनाप्रहतमदूषितं स्वं स्वीयं लक्षणं यस्य तं अर्थात् त्रिशतत्रिषष्ठिकुवादिवृन्दैरप्रतिहतात्मरूपं । ५ वच्मि । ६ अपवर्गस्य मोक्षस्य प्रणिधेतुमुद्दीपितुं स्पष्टीकरणार्थमित्यर्थः । ७ आश्चर्यदायकं शब्दतः संख्यातमपि चमत्कारप्रदम् । ८ संसारातापशांतये । ९ हे जगन्मातः । १० प्रसन्नतायाः पात्रम् । ११ अस्मिन् ग्रन्थे । १२ तत्त्वनिश्चयम् । १३ स्वज्ञानानुसारेण । १४ कुर्वे । १५ स्वकीयज्ञानाय आत्मज्ञानायेत्यर्थः । १६ अनादिसंतानवर्तनशीलः । १७ तत्त्वज्ञानहननैकमूर्त्तिः । १८ मोहस्य क्षोभेण चांचल्येन विमुक्ता रहिता मुनयः । १९ दर्शनज्ञानयुक्तान् । २० चैतन्यात् । २१ नाशम् ।

---

* ब्रुवेऽपवर्गस्य च हेतुमद्भुतं इत्यपि ।

* श्रद्धधानं इत्यपि । X सच्चरित्राद्युता यम् इत्यपि ।

**मोक्षः स्वात्मप्रदेशस्थितविविधविधेः कर्मपर्यायहानि–
मूलात्तत्कालचित्ताद्विमलतरगुणोद्भूतिरस्या यथावत् ।**

१ आ इति स्मरणे । हे भव्य त्वं स्मरणं कुरु । अस्यात्मनः । शुक्लध्यानस्यादिः पृथक्त्ववितर्कविचारः । मनोवचनकायानामवष्टम्भेनात्मप्रदेशपरिस्पंदनमात्मप्रदेशचलनमीदृग्विधं पृथक्त्ववितर्कमाद्यं शुक्लध्यानं भवतीत्यर्थः । पूर्वविदः सकलश्रुतज्ञानिनः श्रुतकेवलिनः श्रेण्यारोहणात्पूर्वं धर्मध्यानं भवति, श्रेण्योस्तु द्वे शुक्लध्याने भवतस्तेन सकलश्रुतधरस्यापूर्वकरणात्पूर्वं धर्मध्यानं योजनीयम् । अपूर्वकरणेऽनिवृत्तिकरणे सूक्ष्मसांपराये उपशांतकषाये चेति गुणस्थानचतुष्टये पृथक्त्ववितर्कविचारं नाम प्रथमं शुक्लध्यानं तेन शुक्लध्यानादिना । अथवा आदिशब्देन "शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः । परे केवलिनः" इति वचनादेकत्ववितर्कविचारमपि ग्राह्यम् । तत्तु क्षीणकषायगुणस्थाने संभवति तेनापि । अथवा शुक्लध्यानशब्देन आदिशब्दोऽत्र तपःसमितिगुप्तिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रादिसंवरकारणविशेषसूचकोऽपि ग्राह्यस्तेन भावात् आत्मनः सकाशादपरं पृथग्भूतं कृतं करणानि इन्द्रियाणि च तनुः शरीरं च ईदृग्विशेषणविशिष्टस्यात्मनः । संवरात् द्रव्यभावसंवरात् । अथ च निर्जराया एकदेशकर्मगलनस्वभावायाः सकाशाद्यथावत् शुद्धटंकोत्कीर्णात् शुद्धात्मोपलब्धेः सहजशुद्धनिष्कलंकपरमात्मन उपलब्धेः प्रापणात् मोक्षः स्यात् । अथ चास्यात्मनः स्वात्मप्रदेशस्थितविविधविधेः सकाशान्मूलात्कर्महानिः स्यात्—अस्यार्थः—स्वे आत्मन्यात्मप्रदेशानां स्थितं निश्चलताकारणं बाह्यनानापदार्थसमुदायादाकृष्यैकत्र स्वात्मन्याकर्षणं तस्मै हेतवे विविधं नानाप्रकारं विधिर्विधानं पिंडस्थपदस्थरूपस्थादिध्यानयोगक्रियालक्षणं तस्मात् । मूलान्मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणांतरायक्षयाच्च बंधहेत्वभावनिर्जराभ्यां चेति कर्मणां पर्यायस्य च हानिः स्यादष्टकर्महानिः। अथ च मनुष्यभवपर्यायशरीरहानिः स्यात् । अथ च तत्कालचित्ताद्विमलतरगुणोद्भूतिः स्यात् । तत् तस्मिन् परमात्मनि कालेऽन्तर्मुहूर्तमात्रे । चित्तात् चित्तधारणात्कालचित्तात् । "एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्" इति वचनात् । अथवा तत्कालचित्तात्तेषां कर्मणां काले नाशे सति तत्र चित्ताद्धृदयात् । "कृतांतानेहसोः कालः" इत्यमरः । विमलतरा अतिशयेन निश्चलाश्च ते गुणाश्च तेषामुद्भूतिरुद्भवनं उत्पत्तिरिति यावत् । केवलज्ञानकेवलदर्शनाद्यनंतगुणोत्पत्तिः स्यादित्यर्थः । अथ च परमसमरसीभावपीयूषतृप्तिः स्यात् ।

स्याच्छुद्धात्मोपलब्धेः परमसमरसीभावपीयूषतृप्तिः
शुक्लध्यानादिभावापरकरणतनोः संवरान्निर्जरायाः ॥ ५ ॥
सम्यग्[1]दृग्ज्ञानवृत्तं त्रितयमपि युतं मोक्षमार्गो विभक्ता-
त्सर्वं स्वात्मानुभूतिर्भवति च तदिदं निश्चयात्[2]तत्त्वदृष्टेः ।
एतद्[3]द्वैतं च ज्ञात्वा निरु[4]पाधिसमये स्वात्म[5]तत्त्वे निलीय[6]
यो[7] निर्भेदो[8]ऽस्ति भूय[9]×स्स नियतम्[10]चिरा[11]न्मोक्षमाप्नोति[12] चात्मा ।६।
यच्छ्रद्धानं जिनोक्ते[13]रथ नय[14]भजनात्सप्रमाणा[15]दबाध्या[16]-
त्प्रत्यक्षा[17]च्चानुमाना[18]त् कृत[19]गुणगुणिनिर्णीतियुक्तं गुणाढ्यम्[20] ।

१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि जातित्वादेकवचनमत्र । २ व्यवहारनयाद्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः । निश्चयात्तत्त्रिकमय आत्मा एव । तदुक्तं—सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे । ववहारा णिच्चयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा । १ । ३ व्यवहारनिश्चयं । ४ उपाधिरहिताचारे । ५ स्वकीयात्मपदार्थे । ६ आश्लिष्य । श्लीङ् संश्लेषणे इतिधातोः । ७ जीवः । ८ इतरभेदरहितः शुद्धटंकोत्कीर्णज्ञायकैक-स्वभावः पुद्गलादिभिर्भिन्नोऽस्ति । ९ पुनः । १० निश्चयेन । ११ शीघ्रम् । १२ प्राप्नोति । १३ जिनानामुक्तिस्तस्या अर्थाज्जिनेन्द्रवाक्यात् । १४ नयानां नैगमादीनां भजनात्सेवनान्नयविचारणादित्यर्थः । १५ किंविशिष्टान्नयभजनात् सप्रमाणात्प्रमाणेन सहितात् । १६ वादिप्रतिवादिभिर्बाधतारहितात् । १७ अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा तमक्षमात्मानं । अवधिमनःपर्ययापेक्षया परिप्राप्तक्षयोपशमं केवलापेक्षया प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं प्रतिनिश्चितं । "प्रत्यक्षमन्यत्" इति अवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानत्रयं प्रत्यक्षं प्रमाणं भवति । केचिदिंद्रियव्यापारजनितं ज्ञानं खलु प्रत्यक्षं मन्यंते तन्न घटते । कथम्? इंद्रियज्ञानप्रत्यक्षे सति सर्वज्ञाभावो भवति । सर्वज्ञस्य प्रत्यक्षज्ञानसंभवत्वे सति तेनातीन्द्रियज्ञानवता भवितव्यमिति । परमतेऽप्युक्तम् "अतीन्द्रियज्ञाननिधि" रिति । वस्तूनि संसारेऽनंतानि दूरस्थानि कथमिन्द्रियज्ञानेन गम्यंतेऽतो न प्रत्यक्षज्ञानमिन्द्रियजम् । तस्मात् प्रत्यक्षादवधि-मनःपर्ययकेवलज्ञानत्रयात् । अबाध्यादिति किम् । अत्रोच्यते—केचन वादिनस्तत्त्वज्ञानं

× भूयात् इत्यपि ।

तत्त्वार्थानां[1] स्वभावाद् ध्रुव[2]विगमसमुत्पादलक्ष्मप्रभाजां
तत्सम्यक्त्वं वदंति व्यवहरणनयात्कर्म[3]नाशोपशान्तेः ॥ ७ ॥
एषोऽहं भिन्न[4]लक्ष्मो दृगवगम[5]चरित्रादिसामान्यरूपो
ह्य[6]न्य[7]द्यत्किंचिदाभाति[8] बहुगुणि[9]गुण[10]वृत्ति[11]लक्ष्म [12]परं तत् ।
धर्मं चाधर्ममाकाशर[13]समुखगण[14]द्रव्यजीवांतरा[15]णि

प्रमाणं इति मन्यंते । केचित्तु संन्निकर्षः प्रमाणं इति मन्यन्ते । संन्निकर्ष इति कोऽर्थः ? इन्द्रियं विषयश्च तयोः संबंधः संन्निकर्षः तदुभयमपि निराकर्तुं मतिश्रुतावध्यादि सूचयितुं अबाध्यादित्युक्तम् । १८ अनुमितिकरणमनुमानं तस्मादनुमानप्रमाणात् । अत्र परोक्षप्रमाणं मतिश्रुतद्वयं बोद्धव्यम् । किंलक्षणं परोक्षं इति चेदुच्यते इन्द्रियानीन्द्रियाणि पराणि प्रकाशादिकं च आदिशब्दात् गुरूपदेशादिकं च परं । मतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमश्च परं उच्यते । तत्परं बाह्यहेतुमपेक्ष्य अक्षस्य आत्मनः उत्पद्यते यज्ज्ञानद्वयं तत्परोक्षम् । इन्द्रियानिन्द्रियानिमित्तं तत् । " श्रुतमानिन्द्रियस्य " इतिवाक्यात् । अत्रागमोपमानार्थापत्त्यभावा अंतर्भूताः । १९ कृतं रचितं तत् गुणाश्च गुणिनश्च तेषां निर्णीतिर्निश्चयं तेन युक्तं । २० गुणैर्निःशंकतादिभिराढ्यं युक्तम् ।

१ नवतत्त्वानां षड्द्रव्याणां वा । २ ध्रुवशब्देन ध्रौव्यं विगमशब्देन व्ययः समुत्पादशब्देनोत्पादस्तदेव लक्ष्म चिह्नं तत्प्रभजंति तेषामिति । ३ नाशः क्षयः उपशांतिरुपशमो वा नाशोपशांतिः क्षयोपशम इत्यत्र सम्यक्त्वत्रयं परिगृहीतमिति । ४ पृथक्चिह्नोऽहम् भिन्नः पुद्गलश्च, शरीरादिर्भिन्न इति भावः । ५ दर्शनज्ञानचारित्रादिसामान्यरूपः । ६ हीति निश्चयेन । ७ शुद्धजीवद्रव्यादन्यत्सर्वम् । ८ प्रतिभाति । ९ बहवो गुणिनो द्रव्यार्थाश्च तेषां गुणाश्च तस्मिन् गुणसामान्यापेक्षयैकवचनमिति । १० प्रवर्तत् ११ । चिह्नम् । १२ अन्यत् । १३ अत्र रसशब्दो द्रव्यवाचकः " रसो गंधे जले वीर्ये तिक्तादौ द्रव्यरागयो " रिति मेदिनीकोषः । १४ मुखे आद्ये व्यवहारकाले गणः संख्या यस्मिन् तन्मुखगणं तत्कालं च तद्द्रव्यं च मुखगणद्रव्यं कालद्रव्यं इत्यर्थः । १५ जीवोन्तरो मध्ये यस्मिन् तज्जीवांतरम् पुद्गलद्रव्यमिति । पश्चाद्द्वंद्वः कार्यः । आकाशरसश्च मुखगणद्रव्यं च जीवांतरं चेति ।

मत्तः[1] सर्वं हि भिन्नं परपरिणतिरप्यात्मकर्मप्रजाता[2] ॥ ८ ॥
निश्चित्येतीह सम्यग्विगतसकलदृग्मोहभावः स जीवः ।
सम्यग्दृष्टिर्भवेन्निश्चयनयकथनात्सिद्धकल्पश्च[3] किंचित् ।
यद्यात्मा स्वात्मतत्त्वे स्तिमितनिखिलभेदैकतानो बभाति
साक्षात्सद्दृष्टिरेवायमथ विगतरागश्च लोकैकपूज्यः ॥९॥ युग्मम्

जीवाजीवादितत्त्वं जिनवरगदितं[4] गौतमादिप्रयुक्तं[5]
वक्रग्रीवादिसूक्तं[6] सदमृतविधुसूर्यादिगीतं[7] यथावत् ।
तत्त्वज्ञानं तथैव स्वपरभिदमलं द्रव्यभावार्थदक्षम्
संदेहादिप्रमुक्तं व्यवहरणनयात्संविदुक्तं दृगादि ॥ १० ॥

स्वात्मन्येवोपयुक्तः परपरिणतिभिच्चिद्[8]गुणग्रामदर्शी
चिच्चित्पर्यायभेदाधिगमपरिणतत्वाद्विकल्पावलीढः[9] ।
सः स्यात्सद्बोधचंद्रः[10] परमनयगतत्वाद्विरागी[11] कथंचि-
च्चेदात्मन्येव मग्नश्च्युतसकलनयो[12] वास्तवज्ञानपूर्णः ॥ ११ ॥

---

१ आत्मनः । २ क्रोधलोभमोहादिपरिणतिः । ३ सिद्धये मोक्षाय कल्पः सज्जः । ४ जिनवरेण गदितं कथितमिति । ५ तदनु गौतमादिभिर्गणधरैः प्रयुक्तं द्वादशांगरूपेण गुंफितम् । ६ कुंदकुंदादिभिरानुपूर्वीमवलम्ब्य कथितमिति । ७ अमृतचंद्राद्याचार्यैः गीतं देशितमिति । ८ चिच्छब्देन चेतना । ज्ञानभावेन स्वरूपवेदनमिति ज्ञानचेतना, ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं ह्यज्ञानचेतना । सा द्विविधा कर्मकर्मफलचेतना च । तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना । ज्ञानादन्यत्रेदं चेतयेहमिति चेतनं कर्मफलचेतना । तत्र ज्ञानचेतना सिद्धानां भवति । संसारिजीवाणामन्ये द्वे भवतः ज्ञानचेतना चेति ज्ञानादिभावेन चेतनाया बहवो भेदा ज्ञेयास्तेषामधिगमो ज्ञानं तत्र परिणतत्वादिति । ९ भेदावलीढः । १० सद्ज्ञानचंद्रः निश्चयज्ञानम् । ११ निश्चयनयत्वात् । १२ सर्वव्यापाररहितः ।

को भित्संविद्दृशोर्वै ननु समसमये संभवत्सत्त्वतः स्या-
देकं लक्ष्म द्वयोर्वा तदखिलसमयानां च निर्णीतिरेव ।
द्वाभ्यामेवाविशेषादिति मतिरिह *चेन्नैव शक्तिर्द्वयोःस्या-
त्संविन्मात्रे हि बोधो रुचिरतिविमला तत्र सा सद्दृगेव ॥१२॥
पंचाचारादिरूपं दृगवगमयुतं सच्चरित्रं च भाक्तं
द्रव्यानुष्ठानहेतुस्तदनुगतमहारागभावः कथंचित् ।
भेदज्ञानानुभावादुपशमितकषायप्रकर्षस्वभावो
भावो जीवस्य सः स्यात्परमनयगतः स्याच्चरित्रं सरागम् ।१३।
स्वात्मज्ञाने निलीनो गुण इव गुणिनि त्यक्तसर्वप्रपंचो
रागः कश्चिन्न बुद्धौ खलु कथमपि वा बुद्धिजः स्यात्तु तस्य ।

१ को भेदः । २ ज्ञानदर्शनयोः । ३ नन्विति वितर्के । ४ समः समानः समयः काल इति समसमयस्तस्मिन् । ५ लक्षणम् । ६ समस्तान्यमतसिद्धान्तानाम् । ७ निश्चयमेव । ८ ज्ञानदर्शनाभ्यामेव । ९ विशेषो भेदस्तेन रहितात् । १० ज्ञानदर्शनद्वयात् । ११ ज्ञानमात्रे । १२ श्रद्धा । १३ बोधे । १४ श्रद्धा । १५ सत्सम्यक्त्वमेव । १६ पंचविधमाचारं दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्यभेदात्, आदिशब्देन द्वादशतपांसि दशधर्माः षडावश्यकक्रिया इत्यादिकं परिग्राह्यं तदेव रूपं स्वरूपं यस्य तत् । १७ दर्शनज्ञानसंयुक्तम् । १८ सम्यक्चारित्रम् । १९ सेवितं सत्, "भक्तिर्विभागे सेवायामिति" मेदिनी । २० द्रव्यस्यात्मनोऽनुष्ठानं अधिष्ठानं प्रभावस्तस्य हेतुः । २१ महता कष्टेन । २२ भेदविज्ञानप्रभावात् । २३ उपशमितः कषायानां प्रकर्षस्योद्रेकस्य स्वभावो येन सः । २४ सो भावः । २५ एतत्सरागचारित्रलक्षणं प्रतिपादितम् । २६ नितरां लीनो निलीनः । २७ त्यक्तः सर्वः प्रपंचो विस्तारः संचयः प्रतारणं वा येनासौ त्यक्तसर्वप्रपंचोऽर्थाद्बाह्यवस्तुविस्ताररहितोऽथवा सर्वजीवानां प्रतारणेन रहितः । "प्रपंचः संचयेऽपि स्याद्विस्तारे च प्रतारणे" इति मेदिनी । २८ वा अथवा । २९ बुद्धिजः बुद्धिजनितो रागः । ३० त्विति पादपूरणे । ३१ मुनेः ।

* चेन्न स्वभावप्रदेशात् इत्यपि ।

सूक्ष्मत्वात्तं हि गौणं[1] यतिवरवृषभाः[2] स्याद्विधायेत्युशंति[3]
तच्चारित्रं विरागं यदि खलु विगलेत्सोऽपि[4] साक्षाद्विरागम्[5] ॥१४॥

इति श्रीमदध्यात्मकमलमार्तण्डाभिधाने शास्त्रे मोक्षमोक्षमार्गलक्षण-
प्रतिपादकः प्रथमः परिच्छेदः।

---

१ अप्रधानम्। २ यतिवराणां मध्ये वृषभाः श्रेष्ठाः। ३ कथयन्ति। ४ सोऽपि बुद्धिजानितो रागः। ५ साक्षात् वीतरागं चारित्रम्।

द्वितीयः परिच्छेदः

*जीवाजीवावाश्रवबन्धौ किल संवरश्च निर्जरणं ।
मोक्षस्तत्त्वं सम्यग्दर्शनसद्बोधविषयमखिलं स्यात् ॥ १ ॥
*आश्रवबन्धांतर्गतं[1] पुण्यं पापं स्वभावतो न पृथक् ।
तस्मान्नोद्दिष्टं खलु तत्त्वदृशा सूरिणा सम्यक् ॥ २ ॥
जीवम्[2] अजीवं द्रव्यं तत्र[3] तदन्ये[4] भवंति मोक्षान्ताः[5] ।
चित्पुद्गलपरिणामाः[6] केचित्संयोगजाश्च[7] विभजनजाः ॥ ३ ॥
द्रव्याण्य[8]नाद्यनिधनानि[9] सदात्मकानि[10]
स्वात्मस्थितानि[11] सदकारणवन्ति नित्यम् ।

---

१ आश्रवश्च बन्धश्च तयोर्मध्येऽन्तर्गतं मध्यगतमिति आश्रवबन्धांतर्गतम् । २ ज्ञानादिभेदेनानेकप्रकारा चेतना सा लक्षणं यस्यासौ जीवस्तद्विपरीतोऽजीवः । ३ जीवाजीवयोः । ४ जीवाजीवाभ्यामन्ये । ५ शुभाशुभकर्मागमद्वारलक्षण आश्रवः. आत्मनः कर्मणश्च परस्परप्रदेशानुप्रवेशलक्षणो बन्धः । आश्रवनिरोधलक्षणः संवरः । एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणो निर्जरा । सर्वकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः । ६ अन्ये जीवपुद्गलयोः स्वभावाः । ७ आश्रवबंधमुख्याः संयोगजाः पुनः केचित् संवरनिर्जरामोक्षा विभजनजाश्चेति भावः । ८ यथास्वं पर्यायैर्द्रूयन्ते द्रवन्ति वा तानि द्रव्याणि । ९ आद्यन्तरहितानि । १० सत्सत्त्वं आत्मा स्वरूपो येषां तानि सदात्मकानि । ११ स्वस्यात्मनि स्थितानि साध्ववस्थितानीत्यर्थः ।

---

*एतौ श्लोकौ जम्बूस्वामिचरिते (३–११, १२) अपि लभ्येते ।

*आश्रवबन्धवपुरिदं इत्यपि ।

एकत्र संस्थितवपूंष्यपि[1] भिन्नलक्ष्म-
लक्ष्याणि तानि कथयामि यथास्वशक्ति[2] ॥ ४ ॥
गुणपर्यय[3]वद्द्रव्यं विगमोत्पाद[4]ध्रुवत्ववच्चापि ।
सल्लक्षणमिति च स्याद्द्वाभ्यां[5]मेकेन[6] वस्तु लक्ष्येद्वा ॥ ५ ॥
अन्वयिनः किल नित्या गुणाश्च निर्गुणावयवा[7] (वा) ह्यनंतांशाः[8] ।
द्रव्याश्रया[9] विनाशप्रादुर्भावाः स्वशक्तिभिः शश्वत् ॥ ६ ॥
सर्वेष्वविशेषेण हि ये द्रव्येषु च गुणाः प्रवर्तंते ।
ते सामान्यगुणा इह यथा सदादि प्रमाणतः सिद्धम् ॥ ७ ॥
तस्मिन्नेव विवक्षितवस्तुनि मग्ना इहेदमिति चिज्ज्ञाः ।
ज्ञानादयो यथा ते द्रव्यप्रतिनियमिनो विशेषगुणाः ॥ ८ ॥
व्यतिरेकिणो ह्यनित्यास्तत्काले द्रव्यतन्मयाश्चापि ।
ते पर्याया द्विविधा द्रव्यावस्थाविशेषधर्मांशाः ॥ ९ ॥
एकानेकद्रव्याण्येकानेकप्रदेशसंपिण्डः ।
द्रव्यजपर्यायोऽन्यो देशावस्थांतरे तु तस्माद्धि ॥ १० ॥

---

१ षट्द्रव्याण्येकत्र स्थितान्यपि कदाचिन्निजस्वरूपं न जहन्ति । २ स्वशक्तिमनतिक्रम्येति यथास्वशक्ति । ३ गुण्यते विशिष्यते पृथक्क्रियते द्रव्यं द्रव्यांतराद्यैस्ते गुणाः, पर्ययणं पर्ययः, स्वभावविभावरूपतया परिप्राप्तिरित्यर्थः । गुणाश्च पर्ययाश्च गुणपर्ययाः तेऽस्य संतीति गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति । अत्र मतुप्प्रत्ययो कथंचिद्भेदे द्रष्टव्यः । ४ द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत उभयनिमित्तवशात् भावान्तरावाप्तिरुत्पादनमुत्पादः । तथा पूर्वभावविगमनं व्ययः । अनादिपारिणामिकस्वभावेन व्ययोदयाभावात् ध्रुवति स्थिरीभवतीति ध्रुवस्तस्य भावो ध्रौव्यं ध्रुवत्वं वा । ५ पूर्वोक्ताभ्यां लक्षणाभ्याम् । ६ द्वयोर्मध्येऽन्यतरेण वा । ७ गुणेभ्यो निष्क्रांता इति निर्गुणाः, निर्गुणा अवयवाः शक्त्यंशा येषां ते निर्गुणावयवाः । ८ अनन्ता अंशा अविभागप्रतिच्छेदा येषां ते । ९ द्रव्यमाश्रयो येषां ते ।

यो द्रव्यान्तरसमितिं विनैव वस्तुप्रदेशसंपिण्डः ।
नैसर्गिकपर्यायो द्रव्यज इति शेषमेव गदितं स्यात् ॥ ११ ॥
द्रव्यान्तरसंयोगादुत्पन्नो देशसंचयो द्रयजः ।
वैभाविकपर्यायो द्रव्यज इति जीवपुद्गलयोः ॥ १२ ॥
एकैकस्य गुणस्य हि येऽनंतांशाः प्रमाणतः सिद्धाः ।
तेषां हानिर्वृद्धिर्वा पर्याया गुणात्मकाः स्युस्ते ॥ १३ ॥
धर्मद्वारेण हि ये भावा धर्मांशात्मका (हि) द्रव्यस्य ।
द्रव्यांतरनिरपेक्षास्ते पर्यायाः स्वभावगुणतनवः ॥ १४ ॥
अन्यद्द्रव्यनिमित्ताद्ये परिणामा भवंति तस्यैव ।
धर्मद्वारेण हि ते विभावगुणपर्या (यं) या द्वयोरेव ॥ १५ ॥
कैश्चित्पर्ययविगमैर्व्येति द्रव्यं ह्युदेति समकाले ।
अन्यैः पर्ययभवनैर्धर्मद्वारेण शाश्वतं द्रव्यम् ॥ १६ ॥
बहिरंतरंगसाधनसद्भावे सति यथेह *तंत्वादिषु ।
द्रव्यावस्थान्तरो हि प्रादुर्भावः पटादिवन्न सतः ॥ १७ ॥
सति कारणे यथास्वं द्रव्यावस्थांतरे हि सति नियमात् ।
पूर्वावस्थाविगमो विगमश्चेतीह लक्षितो न सतः ॥ १८ ॥
पूर्वावस्थाविगमेऽप्युत्तरपर्यायसमुत्पादे हि ।
उभयावस्थाव्यापि च तद्भावाव्ययमुवाच तन्नित्यम् ॥ १९ ॥
सद्द्रव्यं सच्च गुणः सत्पर्यायः स्वलक्षणाद्भिन्नाः ।
तेषामेकास्तित्वं सर्वं द्रव्यं प्रमाणतः सिद्धम् ॥ २० ॥
ध्रौव्योत्पादविनाशा भिन्ना द्रव्यात्कथंचिदिति नयतः ।
युगपत्सन्ति विचित्रं स्याद्द्रव्यं तत्कुदृष्टिरिह नेच्छेत् ॥ २१ ॥

* तत्त्वादिषु इत्यपि ।

अविनाभावो विगमप्रादुर्भावध्रुवत्रयाणां च ।
गुणिगुणपर्यायाणामेव तथा युक्तितः सिद्धम् ॥ २२ ॥
स्वीयाच्चतुष्टयात्किल सदिति द्रव्यं ह्यबाधितं गदितम् ।
परकीयादिह तस्मादसदिति कस्मै न रोचते तदिदम् ॥ २३ ॥
एकं पर्ययजातैः समप्रदेशैरभेदतो द्रव्यम् ।
गुणिगुणभेदान्नियमादनेकमपि न हि विरुद्धयेत ॥ २४ ॥
नित्यं त्रिकालगोचरधर्मत्वात्प्रत्यभिज्ञतस्तदपि ।
क्षणिकं कालविभेदात्पर्यायनयादभाणि सर्वज्ञैः ॥ २५ ॥

इति श्रीमदध्यात्मकमलमार्तण्डाभिधाने शास्त्रे द्रव्यसामान्य-
लक्षणसमुद्द्योतको द्वितीयः परिच्छेदः ।

तृतीयः परिच्छेदः ।

जीवो द्रव्यं प्रमितिविषयं तद्गुणाश्चेत्यनन्ताः
पर्यायास्ते गुणिगुणभवास्ते च शुद्धा ह्यशुद्धाः ।
प्रत्येकं स्युस्तदखिलनयाधीनमेव स्वरूपम्
तेषां वक्ष्ये परमगुरुतोऽहं च किंचिज्ज्ञ एव ॥ १ ॥
प्राणैर्जीवति यो हि जीवितचरो जीविष्यतीह ध्रुवं
जीवः सिद्ध इतीह लक्षणबलात्प्राणास्तु संतानिनः ।
भावद्रव्यविभेदतो हि बहुधा जंतोः कथंचित्त्वतः[1]
साक्षात् शुद्धनयं प्रगृह्य विमला जीवस्य ते चेतना ॥ २ ॥
संख्यातीतप्रदेशास्तदनुगतगुणास्तद्भवाश्चापि भावाः
एतद्द्रव्यं हि सर्वं चिदभिदधिगमात्तंतुशौक्ल्यादिपुंजे ।
सर्वस्मिन्नेव बुद्धिः पट इति हि यथा जायते प्राणभाजां
सूक्ष्मं लक्ष्म प्रवेत्ति प्रवरमतियुतः क्वापि काले न चाज्ञः ॥ ३ ॥
जीवद्रव्यं यथोक्तं विविधविधियुतं सर्वदेशेषु याव-
द्भावैः कर्मप्रजातैः परिणमति यदा शुद्धमेतन्न तावत् ।
भावापेक्षाविशुद्धो यदि खलु विगलेद्घातिकर्मप्रदेशः
साक्षाद्द्रव्यं हि शुद्धं यदि कथमपि वाऽघातिकर्मापि नश्येत् ॥४॥
संख्यातीतप्रदेशेषु युगपदनिशं विश्ववर्श्विद्विशेषा-[2]
स्ते सामान्या विशेषाः परिणमनभवानेकभेदप्रभेदाः ।

---

१ कथंचित्तु ते इत्यपि । २ विष्लवंश्चित् इत्यपि ।

नित्यज्ञानादिमात्राश्चिद्वगमकरा ह्युक्तिमात्रप्रभिन्नाः
श्रीसर्वज्ञैर्गुणास्ते समुदितवपुषो ह्यात्मतत्त्वस्य तत्त्वात् ॥ ५ ॥
मुक्तौ कर्मप्रमुक्तौ परिणमनमदः स्वात्मधर्मेषु शश्व-
द्धर्मांशैश्च स्वकीयागुरुलघुगुणतः स्वागमात्सिद्धसत्त्वात् ।
युक्तेः शुद्धात्मनां हि प्रमितिविषयास्ते गुणानां स्वभावा-
त्पर्यायाः स्युश्च शुद्धा भवनविगमरूपास्तु वृद्धेश्च हानेः ॥ ६ ॥
संसारेऽत्र प्रसिद्धे परसमयवति प्राणिनां कर्मभाजां
ज्ञानावृत्यादि-कर्मोदयसमुपशमाभ्यां क्षयाच्छांतितो वा ।
ये भावाः क्रोधमानादि(?)समुपशमाभ्यां सम्यक्त्वादयो हि
बुद्धिश्रुत्यादिबोधाः कुमतिकुदृगचारित्रग(?)त्यादयश्च ॥ ७ ॥
चक्षुर्दृष्ट्यादि चैतद्धि समलपरिणामाश्च संख्यातिरिक्ताः ।
सर्वे वैभाविकास्ते परिणतिवपुषो धर्मपर्यायसंज्ञाः ।
प्रत्यक्षादागमाद्वा ह्यनुमितिमतितो लक्षणाच्चेति सिद्ध-
स्तत्सूक्ष्मांतः प्रभेदाश्च गतसकलदृग्मोहभावैर्विवेच्यः ॥ ८ ॥ युग्मं
आत्मासंख्यातदेशप्रचयपरिणतिर्जीवतत्त्वस्य तत्त्वा-
त्पर्यायः स्यादवस्थान्तरपरिणतिरित्यात्मवृत्त्यन्तरो हि ।
द्रव्यात्मा स द्विधोक्तो विमलसमलभेदाद्धि सर्वज्ञगीत-
श्चिद्द्रव्यास्तित्वदर्शी नयविभजनो रोचनीयः प्रदक्षैः ॥ ९ ॥
कर्मापाये चरमवपुषः किंचिदूनं शरीरं
स्वात्मांशानां तदपि पुरुषाकारसंस्थानरूपम् ।
नित्यं पिंडीभवनमिति वाऽकृत्रिमं मूर्तिवर्ज्यम्
चित्पर्यायं विमलमिति चाभेद्यमेवान्वयुगम् ॥ १० ॥

१ समुपशमसम्यक्तवृत्त्यादयो हि इत्यपि ।

ये देहा देहभाजां गतिषु नरकतिर्यग्मनुष्यादिकासु
स्वात्मांशानां स्वदेहाकृतिपरिणतिरित्यात्मपर्याय एव ।
द्रव्यात्मा चेत्यशुद्धो जिनवरगदितः कर्मसंयोगतो हि
देशावस्थांतरश्चेत्तदितरवपुषि स्याद्विवर्त्यन्तरश्च ॥ ११ ॥
एकोऽप्यात्मान्वयात्स्यात्परिणतिमयतो भावभेदात्त्रिधोक्तः
पर्यायार्थान्नयाद्वै परसमयरतत्वाद्बहिर्जीवसंज्ञः ।
भेदज्ञानाच्चिदात्मा स्वसमयवपुषो निर्विकल्पात्समाधेः
स्वात्मज्ञश्चांतरात्मा विगतसकलकर्मा स चेत्स्याद्विशुद्धः ॥१२॥
कर्ता भोक्ता कथंचित्परसमयरतः स्याद्विधीनां हि शश्व-
द्रागादीनां हि कर्ता स समलनयतो निश्चयात्स्याच्च भोक्ता ।
शुद्धद्रव्यार्थिकाद्वा स परमनयतः स्वात्मभावात्करोति
भुंक्ते चैतान् कथंचित्परिणतिनयतो भेदबुद्ध्याप्यभेदे ॥ १३ ॥
भेदज्ञानी करोति स्वसमयरत इत्यात्मविज्ञानभावान्
भुंक्ते चैतांश्च शश्वत्तदपरमपदे वर्तते सोऽपि यावत् ।
तावत्कर्माणि बध्नाति समलपरिणामान्विधत्ते च जीवो
ह्यंशेनैकेन तिष्ठेत्स तु परमपदे चेन्न कर्ता च तेषाम् ॥ १४ ॥
शुद्धाशुद्धा हि भावा ननु युगपदिति स्वैकतत्त्वे कथं स्यु-
रादित्याद्युद्द्योततमसोरिव जडतपयोर्वा विरुद्धस्वभावात् ।
इत्यारेका हि ते चेन्न खलु नयबलात्तुल्यकालेऽपि सिद्धे-
स्तेषामेव स्वभावाद्धि करणवशतो जीवतत्त्वस्य भावात् ॥१५॥
सद्दृग्मोहक्षतेः स्युस्तदुदयजनि(१)-भावप्रणाशाद्विशुद्धा
भावाश्चेत्यावृतेर्वोदयभवपरिणामाप्रणाशादशुद्धाः ।

१ चोदय इत्यपि ।

इत्येवं चोक्तरीत्या नयविभजनतो बोध इत्यात्मभावान्
दृष्टिं कृत्वा विशुद्धिं तदुपरितनतो भावतो शुद्धिरस्ति ॥ १६ ॥
संक्लेशासक्तचित्तो विषयसुखरतः संयमादिव्यपेतो
जीवः स्यात्पूर्वबद्धोऽशुभपरिणतिमान् कर्मभारप्रवोढा ।
दानेज्यादौ प्रसक्तः श्रुतपठनरतस्तीव्रसंक्लेशमुक्तो
वृत्त्याद्यालीढभावः शुभपरिणतिमान् सद्विधीनां विधाता ॥१७॥
शुद्धात्मज्ञानदक्षः श्रुतनिपुणमतिर्भात्रदर्शी पुरापि
चारित्रादिप्ररूढो विगतसकलसंक्लेशभावो मुनींद्रः ।
साक्षाच्छुद्धोपयोगी स इति नियमवाचावधार्येति सम्य-
क्कर्मघ्नोऽयं सुखं स्यान्नयविभजनतो सद्विकल्पोऽविकल्पः ॥ १८॥
द्रव्यं मूर्तिमदाख्यया हि तदिदं स्यात्पुद्गलः संमतो
मूर्तिश्चापि रसादिधर्मवपुषो ग्राह्याश्च पंचेन्द्रियैः ।
सर्वज्ञागमतः समक्षमिति भो लिंगस्य बोधान्मिता-
त्तद्द्रव्यं गुणवृन्दपर्ययुतं संक्षेपतो वच्म्यहम् ॥ १९ ॥
शुद्धः पुद्गलदेश एकपरमाणुः संज्ञया मूर्तिमां-
स्तद्देशाश्रितरूपगंधरससंस्पर्शादिधर्माश्च ये ।
तद्भावाश्च जगाद पुद्गलमिति द्रव्यं हि चैतत्त्रयं
सर्वं शुद्धमभेदबुद्धित इदं चांतातिगं संख्यया ॥ २० ॥
रूक्षास्निग्धगुणैः प्रदेशगणसंपिण्डो गुणानां व्रज-
स्तत्राप्यर्थसमुच्चयोऽखिलमिदं द्रव्यं ह्यशुद्धं च तत् ।
पर्यायार्थिकनीतितो हि गणितात्संख्यातदेशी विधिः ।
संख्यातीतसमं शमाद्भवति वानंतप्रदेशी त्रिधा ॥ २१ ॥

शुद्धैकाणुसमाश्रितास्त्रिसमये तत्रैव चाणौ स्थिता-
श्चत्वारः किल रूपगंधरससंस्पर्शा ह्यनंतांगिनः ।
मूर्तद्रव्यगुणाश्च पुद्गलमया भेदप्रभेदैस्तु ते ।
येनैके परिणामिनोऽपि नियमाद्ध्रौव्यात्मकाः सर्वदा ॥ २२ ॥

पर्यायः परमाणुमात्र इति संशुद्धोऽन्वयाख्यः स हि
रूक्षस्निग्धगुणैः प्रदेशचयजो शुद्धश्च मूर्त्यात्मनः ।
द्रव्यस्येति विभक्तनीतिकथनात्स्याद्भेदतः स त्रिधा
सूक्ष्मांतर्भिदनेकधा भवति सोपीहेति भावात्मकः ॥ २३ ॥

शब्दो बन्धः सूक्ष्मस्थूलौ संस्थानभेदसंतमसम् ।
छायातपप्रकाशाः पुद्गलवस्तोरशुद्धपर्यायाः ॥ २४ ॥

शुद्धेऽणौ खलुरूपगंधरससंस्पर्शाश्च ये निश्चिता-
स्तेषां विंशतिधा भिदो हि हरितात्पीतो यथाम्रादिवत् ।
तद्भेदात्परिणामलक्षणबलाद्भेदान्तरे सत्यतो
धर्माणां परिणाम एष गुणपर्यायः स शुद्धः किल ॥ २५ ॥

तत्राणौ परमे स्थिताश्च रसरूपस्पर्शगंधात्मकाः (?)
एकैकद्वितयैकभेदवपुषः पर्यायरूपाश्च ये ।
पंचैवेति सदा भवंति नियमोऽनंताश्च तच्छक्तयो
पर्यायः क्षतिवृद्धिरूप इति तासां धर्मसंज्ञोऽमलः (?) ॥ २६ ॥

स्कंधेषु द्व्यणुकादिषु प्रगतसंशुद्धत्वभावेषु च
ये धर्माः किल रूपगंधरससंस्पर्शाश्च तत्तन्मयाः ।
तेषां च स्वभिदो भिदेतरतनुर्भावश्च तच्छक्तयो
ह्यर्थस्तत्क्षतिवृद्धिरूप इति चाशुद्धश्च धर्मात्मकः ॥ २७ ॥

लोकाकाशमितप्रदेशवपुषौ धर्मात्मकौ संस्थितौ
नित्यौ देशगणप्रकंपरहितौ सिद्धौ स्वतंत्राच्च तौ ।
धर्माधर्मसमाह्वयाविति तथा शुद्धौ त्रिकाले पृथक्
स्यातां द्वौ गुणिनावथ प्रकथयामि द्रव्यधर्मास्तयोः ॥ २८ ॥

शुद्धा देशगुणाश्च पर्ययगणा एतद्धि सर्वं समम्
द्रव्यं स्यान्नियमादमूर्तममलं धर्मं ह्यधर्मं च तत्
तद्देशाः किल लोकमात्रगणिता पिंडीबभूवुः स्वयं
पर्यायो विमलः स एष गुणिनोऽधर्मस्य धर्मस्य च ॥ २९ ॥

धर्मद्रव्यगुणो हि पुद्गलचितोश्चिद्द्रव्ययोरात्मभा
गच्छद्भाववतोर्निमित्तगतिहेतुत्वं तयोरेव यत् ।
मत्स्यानां हि जलादिवद्भवति चौदास्येन सर्वत्र च
प्रत्येकं सकृदेव शश्वदनयोर्गत्यात्मशक्तावपि ॥ ३० ॥

तिष्ठद्भाववतोश्च पुद्गलचितोश्चौदास्यभावे नय-
द्धेतुत्वं पथिकस्य मार्गप्रटतश्च्छाया यथावस्थितेः ।
धर्मो धर्मसमाह्वयस्य गतमोहात्मप्रदिष्टः सदा
शुद्धोऽयं सकृदेव शश्वदनयोः स्थित्यात्मशक्तावपि ॥ ३१ ॥

धर्माधर्माख्ययोर्वै परिणमनमदस्तत्त्वयोः स्वात्मनैव
धर्मांशैश्च स्वकीयागुरुलघुगुणतः स्वात्मधर्मेषु शश्वत्
सिद्धात्सर्वज्ञवाचः प्रतिसमयमयं पर्ययः स्याद्द्वयोश्च
शुद्धो धर्मात्मसंज्ञः परिणतिमयतोऽनादिवस्तुस्वभावात् ॥ ३२ ॥

गगनतत्त्वमनंतमनादिमत्सकलतत्त्वनिवासदमात्मगं
द्विविधमाह कथंचिदखंडितं किल तदेकमपीह समन्वयात् ॥३३॥

यावत्स्वाकाशदेशेषु सकलचिदचित्तत्त्वसत्तास्ति नित्या
तावंतो लोकसंज्ञा जिनवरगदितास्तद्बहिर्ये प्रदेशाः ।
सर्वे तेऽलोकसंज्ञा गगनमभिदपि स्वात्मदेशेषु शश्व-
द्भेदार्थाच्चोपलंभाद्द्विविधमपि च तन्नैव बाध्येत हेतोः ॥ ३४ ॥
अंतातीतप्रदेशा गगनगुणिन इत्याश्रितास्तत्र धर्मा-
स्तत्पर्यायाश्च तत्त्वं गगनमिति सदाकाशधर्मं विशुद्धम् ।
द्रव्याणां चावगाहं वितरति सकृदेतद्धि यत्तु स्वभावा-
द्धर्मांशैः स्वात्मधर्मात्मतिपरिणमनं धर्मपर्यायसंज्ञम् ॥ ३५ ॥
गगनानंतांशानां पिण्डीभावः स्वभावतोऽभेद्यः ।
पर्यायो द्रव्यात्मा शुद्धो नभसः समाख्यातः ॥ ३६ ॥
प्रोक्तं[1] द्रव्यं प्रमाणाद्भवति स समयाणुः किल द्रव्यरूपो
लोकैकैकप्रदेशस्थित इति नियमात्सोऽपि चैकैकमात्रः ।
संख्यातीताश्च सर्वे पृथगिति गणिता निश्चयं कालतत्त्वं
भाक्तः कालो हि यः स्यात्समयघटिकावासरादिः प्रसिद्धः ॥३७॥
द्रव्यं कालाणुमात्रं गुणगणकलितं चाश्रितं शुद्धभावैः
तच्छुद्धं कालसंज्ञं कथयति जिनपो निश्चयाद्द्रव्यनीतेः ॥
द्रव्याणामात्मना सत्परिणमनमिदं वर्तना तत्र हेतुः
कालस्यायं च धर्मः स्वगुणपरिणतिर्धर्मपर्याय एषः ॥ ३८ ॥
पर्यायो द्रव्यात्मा शुद्धः कालाणुमात्र इति गीतः ।
सोऽनिहसोऽणवश्चासंख्याता रत्नराशिरिव च पृथक् ॥ ३९ ॥
पर्यायः किल जीवपुद्गलभवो यो शुद्धशुद्धाह्वय-
स्तस्यैतच्चलनात्मकं च गदितं कर्मक्रिया तन्मता

१ कालो इत्यपि ।

तस्याः स्याच्च परत्वमेतदपरत्वं मानमेवाखिलं
तस्मान्मानविशेषतो हि समयादिर्भाक्तकालः स यः ॥ ४० ॥
एवं व्यवहृति_कालं निश्चयकालस्य गांति पर्यायं ।
वृद्धाः कथंचिदिति तद्विचारणीयं यथोक्तनयवादैः ॥ ४१ ॥
अस्तित्वं स्याच्च षण्णामपि खलु गुणिनां विद्यमानस्वभावात्
पंचानां देशपिंडात्समयविरहितानां हि कायत्वमेव ।
सूक्ष्माणोश्चोपचारात्प्रचयविरहितस्यापि हेतुत्वसत्त्वात्
कायत्वं न प्रदेशप्रचयविरहितत्वाद्धि कालस्य शश्वत् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमदध्यात्मकमलमार्त्तण्डाभिधाने शास्त्रे
द्रव्यविशेषप्रज्ञापकस्तृतीयः परिच्छेदः ।

चतुर्थः परिच्छेदः ।

भावा वैभावका ये परसमयरताः कर्मजाः प्राणभाजः
सर्वांगीणाश्च सर्वे युगपदिति सदावर्तिनो लोकमात्राः
ये लक्ष्याश्चैहिकास्ते स्वयमनुमितितोऽन्येन चानैहिकास्ते
प्रत्यक्षज्ञानगम्याः समुदित इति भावाश्रवो भावबन्धः ॥ १ ॥

एतेषां स्युश्चतस्रः श्रुतमुनिकथिता जातयो मर्त्य ताव-
न्मिथ्यात्वं लक्षितं तद्द्व्यविरतिरपि सा यो ह्यचारित्रभावः ।
कालुष्यं स्यात्कषायः समलपरिणतौ द्वौ च चारित्रमोहः
योगः स्यादात्मदेशप्रचयचलनतावाङ्मनःकायमार्गैः ॥ २ ॥

चत्वारः प्रत्ययास्ते ननु कथमिति भावाश्रवो भावबंध-
श्चैकत्वाद्वस्तुतस्ते बत मतिरिति चेत्तन्न शक्तिद्वयोः स्यात्
एकस्यापीह वह्नेर्दहनपचनभावात्मशक्तिद्वयाद्वै
वह्निः स्याद्दाहकश्च स्वगुणगणबलात्पाचकश्चेति सिद्धेः ॥ ३ ॥

मिथ्यात्वाद्यात्मभावाः प्रथमसमय एवाश्रवे हेतवः स्युः
पश्चात्तत्कर्मबन्धं प्रतिसमसमये तौ भवेतां कथंचित् ।
नव्यानां कर्मणामागमनमिति तदात्वे हि नाम्नाश्रवः स्या-
दायत्यां स्यात्स बंधः स्थितिमिति लयपर्यंतमेषोऽनयोर्भित् ॥४॥

वस्त्रादौ स्नेहभावो न परमिह रजोभ्यागमस्यैव हेतु-
र्यावत्स्याद्धूलिबन्धः स्थितिरपि खलु तावच्च हेतुः स एव ।

सर्वेष्येवं कषायानपरमिह निदानानि कर्मागमस्य
बंधस्यापीह कर्मस्थितिमतिरिति यावन्निदानानि भावात् ॥५॥
सिद्धाः कार्म्मणवर्गणाः स्वयमिमा रागादिभावैः किल
ता ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामं यांति जीवस्य हि ।
सर्वांगं प्रति सूक्ष्मकालमनिशं तुल्यप्रदेशस्थिताः
स्याद्द्रव्याश्रव एष एकसमये बन्धश्चतुर्धान्वयः ॥ ६ ॥
प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चतुर्विधो बंधः ।
प्रकृतिप्रदेशबन्धौ योगात्स्यातां कषायतश्चान्यौ ॥ ७ ॥
युगपद्योगकषायौ चिक्कणपटकंपवंचितः स्याताम् ।
बंधोऽपि चतुर्धा स्यद्धितुर्मोतिनियतशक्तितो भेदः ॥ ८ ॥
त्यागो भावाश्रवाणां जिनवरगदितः संवरो भावसंज्ञो
भेदज्ञानाच्च स स्यात्स्वसमयवपुषस्तारतम्यः कथंचित् ।
सा शुद्धात्मोपलब्धेः स्वसमयवपुषो निर्जरा भावसंज्ञा
नाम्ना भेदोऽनयोः स्यात्करणविगतेः कार्यनाशप्रसिद्धेः ॥ ९ ॥
एकः शुद्धो हि भावो ननु कथमिति जीवस्य शुद्धात्मबोधा-
द्भावाख्यः संवरः स्यात्स इति खलु तथा निर्जरा भावसंज्ञा ।
भावस्यैकत्वतस्ते मतिरिति यदि तन्नैव शक्तिर्द्वयोः स्या-
त्पूर्वोपात्तं हि कर्म स्वयमिह विगलेत्तैव बध्येत नव्यं ॥ १० ॥
स्नेहाभ्यंगाभावे गलति रजः पूर्वबद्धमिह नूनम् ।
नाप्यागच्छति नव्यं यथा तथा शुद्धभावतस्तौ द्वौ ॥ ११ ॥
चिदचिद्भेदज्ञानान्निर्विकल्पात्समाधितश्चापि ।
कर्मागमननिरोधस्तत्काले द्रव्यसंवरो गीतः ॥ १२ ॥

शुद्धादुपयोगादिह निश्चयतपसश्च संयमादेर्वा ।
गलति पुरा बद्धं किल कर्मैषा द्रव्यनिर्जरा गदिता ॥ १३ ॥
मोक्षो लक्षित एव हि तथापि संलक्ष्यते यथाशक्ति ।
भावद्रव्यविभेदाद्द्विविधः स स्यात्समाख्यातः ॥ १४ ॥
सर्वोत्कृष्टविशुद्धिर्बोधमती कृत्स्नकर्मलयहेतुः ।
ज्ञेयः स भावमोक्षः कर्मक्षयजा विशुद्धिरथ च स्यात् ॥ १५ ॥
परमसमाधिबलादिह बोधावरणादिसकलकर्माणि ।
चिद्देशेभ्यो भिन्नीभवंति स द्रव्यमोक्ष इह गीतः ॥ १६ ॥
देशेनैकेन गलेत्कर्मविशुद्धिश्च देशतः सेह ।
स्यान्निर्जरा पदार्थो मोक्षस्तौ सर्वतो द्वयोर्भिरिति ॥ १७ ॥
शुभभावैर्युक्ता ये जीवाः पुण्यं भवंत्यभेदात्ते ।
संक्लेशैः पापं तद्द्रव्यं द्वितीयं च पौद्गलिकम् ॥ १८ ॥
ये जीवाः परमात्मबोधपटवः शास्त्रं त्विदं निर्मलं
नाम्नाध्यात्मपयोजभानु कथितं द्रव्यादिलिंगं स्फुटम् ।
जानन्ति प्रमितेश्च शब्दबलतो यो वर्णितः श्रद्धया
ते सद्दृष्टियुता भवंति नियमात्संवांतमोहाः स्वतः ॥ १९ ॥
अर्थाश्चाद्यवसानवर्जतनवः सिद्धाः स्वयं मानत-
स्तल्लक्ष्मप्रतिपादकाश्च शब्दा निष्पन्नरूपाः किल ।
भो विज्ञाः परमार्थतः कृतिरियं शब्दार्थयोश्च स्वतो
नव्यं काव्यमिदं कृतं न विदुषा तद्राजमल्लेन हि ।

इति श्रीमदध्यात्मकमलमार्त्तण्डाभिधाने शास्त्रे
सप्ततत्त्वनवपदार्थप्रतिपादकश्चतुर्थः परिच्छेदः ।

इति अध्यात्मकमलमार्त्तण्डः समाप्तः ।

एतदधिकमपि उपलभ्यते मूलप्रतौ

कम्माणं फलमेक (क्को) कज्जं (एक्को) तु णाणफलमेकं (मथमेको) ।
चेदयदि जीवरासिं (सी) चेदणभावेण तिविहेण ॥ १ ॥
सव्वे खलु कम्मफलं थावरकायं (या)
तस्स (सा हि) कज्जजुत्तं (दं) च ।
पाणहि चिदिकंतो (पाणित्तमदिक्कंता) णाणं विन्दति ते जीवा॥२॥
तच्चाणेसण काले समयं बुज्झदि जुत्तमग्गेण ।
णो आराहण समये पच्चक्खो अणुहवो जम्हा ॥ ३ ॥
पच्चंति मूलपयडी णूणं समुहेण सव्वजीवाणं ।
सुमुहेण परमुहेण य मोहाओ वज्जया सव्वे ॥ ४ ॥
पण्णवदि (परिणमदि) जेण दव्वं तं काले (तक्कालं)
तं मयोदि (तम्मयत्ति) पण्णवदि (त्तं) ।
तम्हा धम्मो (म्म) प(रि)णदो आदा धम्मो मुणेअव्वो ॥ ५ ॥
ज्ञानाद्धर्मप्रवृत्तिर्भवति भुवि नृणां पुण्यबंधप्रबंधो ।
ज्ञानात्सौभाग्यमुच्चैर्विपुलमतियशः प्रार्थितार्थस्य सिद्धिः ।
ज्ञानाल्लक्ष्मीर्विचित्रा नयविनयगुणैर्ज्ञानतो बुद्धियोगो
ज्ञानाद्दौर्गत्यनाशस्त्रिदशपतिपदं ज्ञानतः सुप्रसिद्धम् ॥ १ ॥
दहति मदनवह्निर्मानसं तावदेव
भ्रमयति तनुभाजां कुग्रहस्तावदेव ।
छलयति गुरुतृष्णा राक्षसी तावदेव
स्फुरति हृदि जिनोक्तो वाक्यमंत्रो न यावत् ॥ २ ॥

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो
नागेन्द्रो निशितांकुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभाः ।
व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मंत्रप्रयोगैर्विषं
सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधं ॥ ३ ॥
ज्ञानं मददर्पहरं तेनैव माद्यति तस्य को वैद्यः ।
अमृतं यस्य विषायते तस्य चिकित्सा कथं क्रियते ॥ ४ ॥

अथ प्रशास्तिका

वर्षे वेदाब्धिसिद्धीन्दु (१८४४) मित अमले (?) श्रावणे मासि पूर्वे
कृष्णे पक्षे हि षष्ठ्यां निजविमलकरात्पार्श्वनाथस्य गेहे ।
वृन्दावत्यां नगर्यां व्यसनहरिनृपे श्रीसुरेन्द्रादिकीर्त्तिः
नाम्ना भट्टारकेन्द्रो बुधपतिमहितोऽमुं लिलेखातिभावात् ॥ १ ॥
जिनादिदासस्य विपश्चितोऽत्र पुस्तादशुद्धाच्च लिपीकृतं मे
शीघ्रात्तथाज्ञानतया ह्यशुद्धं यल्लेखितं तद्विबुधैर्विशोध्यम् ॥ २ ॥
विपश्चिच्छात्रसर्वसुखाख्याध्ययनार्थं लिपीकृतं मया ।

जम्बूस्वामिचरिते उद्धारणवाक्यानां वर्णानुक्रमणिका